

व
२७८

५५
४.३

३५३



UPADESHASÂHASRÎ

BY

Shrimad Bhagwatpâdâchârya,

With the Commentary Padayojanikâ

BY

SHRÎMAD RÂMATÎRTHA.

PART I (Prose only)

EDITED BY

WÂSUDEV LAXMAṆA SHÂSTRÎ PAṆSHÎKAR.

PUBLISHED

BY

TUKÂRÂM JÂVAJÎ,

' PROPRIETOR OF THE " NIRNAYA-SAGAR " PRESS.

Bombay.

1914.

Price 8 Annas.

(Registered according to Act XXV of 1867.)

Published by Tukaram Javaji, Proprieto Nirnaya-Sagar Press, and
Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the Nirnaya-Sagar
Press, 23, Kolbhat Lane, Bombay.

४
३५३



श्रीमद्भगवत्पादाचार्यप्रणीता

उपदेशसाहस्री ।



पदयोजनिकाख्यया श्रीमद्रामतीर्थविरचितव्याख्यया
संवलिता ।

गद्यरूपः प्रथमो भागः



अयं ग्रन्थः

पणशीकरोपाह्वविद्वद्वरलक्ष्मणशर्मतनुजनुषा
वासुदेवशर्मणा संस्कृतः ।

मुम्बय्यां

तुकाराम जावजीश्रेष्ठिना

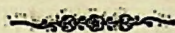
स्वीये निर्णयसागराख्यमुद्रणयन्त्रालयेऽङ्कयित्वा प्रकाशितः ।

शाक १८३६, सन १९१४.

मूल्यं ८ आणकाः



प्रास्ताविकम्—



अतर्क्ये खलु अमिमति संसारचक्रे विपरिवर्तमानानामाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकत्रिविधतापतप्तानामैकान्तिकान्त्यन्तिकदुःखनिवृत्त्युपकारकसाधनतया पुरुषार्थोपायमभिवाञ्छतां पुरुषधैरेयाणां पुरुषार्थोपायान्वेषणैवादावुत्पद्यते । पुरुषार्थश्च द्वेधोपवर्ण्यते दृष्टोऽदृष्टश्चेति । तत्राद्ये दृष्टविषये 'बुभुक्षितोऽश्नीयात्' इत्यादिशास्त्रं व्यावहारिकविषयेषु नावश्यकं, विनापि शास्त्रव्यापारं तत्र लोकप्रवृत्तिदर्शनात् । द्वितीये अदृष्टे तु स्वर्गपवर्गमात्रे नैसर्गिकमोहान्धकारलुप्तालोकस्य लोकस्यासदादेः शास्त्रमेव दिव्यं चक्षुर्नियन्तु च सिद्धान्तितं । तस्मादखिलैः शास्त्रमेवाधिगन्तव्यम् । शास्त्रं पुनर्द्वेधा कर्मब्रह्मोपासनात्मकत्वेन वरीवर्ति । तज्जीवातुभूताश्च सन्ति स्वतःप्रमाणभूता मन्त्रब्राह्मणात्मिकाः श्रुतयः । तन्मूलप्रमाणभूता मन्वादिसृष्टयः, अखिलपुराणानि च । तत्र श्रुतयस्तावत्साक्षादेव विलसन्ति पुरुषार्थसाधनोपदेशस्वभावाः । यथा—'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति । अथ स्मृतिपुराणाभ्यामपि वैदिक एवार्थः प्रकाश्यते, यथा—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ।' इति । तदेतेषामप्युपदेशस्वभावत्वेन लोकशासनाच्छास्त्रत्वम् ।

सर्वथाभ्यर्हिते वेदेऽपि परस्परविरोधकृन्ति सन्ति 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते जुहोति' इत्याद्युदितानुदितहोमादिविरुद्धार्थकवाक्यानि नैकशस्तत्रतत्र । तद्व्यवस्थायै साक्षाद्विध्येकवाक्यतयाऽखिलवेदवाक्यानां कर्मपरत्वं प्रतिपादयन् वेदवाक्यार्थविचारात्मिकां द्वादशलक्षणीं

पूर्वमीमांसां भगवान् जैमिनिः सूत्रयांश्च भूव । यत्परिचयमन्तरा
कृतविविधविद्यापरिश्रमा अपि न विद्युर्यथावत्कर्मकाण्डैकपदीमण्वी-
मपि । भगवान्वादरायणस्तु परब्रह्मपर्यवसायीनि सूत्राण्यसुसूत्रत्
यानि ब्रह्मसूत्रनामधेयेनाप्रथन् । तदुपरि श्रीमद्भगवत्पादाचार्याः
सागराम्बरायामात्मानात्मोपदेशेन मानवप्राण्युद्दिधीर्षया अद्वैतवेदा-
न्तसिद्धान्तमुपोद्बलयन्तो ब्रह्मसूत्रभाष्यमभाषिषन् । अकार्षुश्चानुपदं
विविधान्वेदान्तप्रकरणग्रन्थान् । यदभ्याससाहाय्येन सुकुमारमतयो-
ऽप्यद्वैतसिद्धान्तान्प्रकामं निश्चिनुयुः । तेष्वेवायमुपदेशसाहस्रीसमाख्यो
मुख्यो ग्रन्थः प्राकाश्यं नीतोऽस्माभिरिति संख्यावन्तो विदांकुर्वन्तु ।

विशेषतश्च भूयः सानन्दं निवेदयामः—पूर्वमस्योत्तरो भागः
केवलपद्यमय ऊनविंशतिप्रकरणात्मकः कीलैरानङ्ग्य प्रकाशितोऽस्ति
परंच तदानीमेतस्यालाभाद्यावल्लब्ध एवापूर्णतया कथंकथमप्यवसि-
तोऽभूत्, तस्यैवायं गद्यरूप आदिमो भागः प्रकरणत्रयात्मक एतर्हि
वनारसक्षेत्रमधिष्ठितैर्महोदयैः हरि अनन्त परांजपे इत्येतैर्महता प्रया-
सेन संपाद्य सुष्ठुक्षरैर्विलिख्य श्रीमद्वाराणसीक्षेत्रात्प्रहितः, सचायं
प्रापणसमकालमेव संमुद्य प्रकाशितोऽस्माभिः ।

शंकरभगवत्पादानां जन्मसमयः कलिगताब्दाः ३८८९, विक्रम-
संवत् ८४५ । तथाच शंकरमन्दारसौरभे—

‘प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्या-

मेकादशाधिकशतो नचतुःसहस्र्याम् ।’ इति ।

तथान्यत्रापि तत्परम्पराप्रवणानामुक्तिः—

‘निधिनागोभवन्हृद्वे ३८८९ विभवे मासि माधवे ।

शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शंकरार्योदयः स्मृतः ।’ इति ।

विदुषामेकान्तवशंवदः पणशीकरो वासुदेवशर्मा ।

उपदेशसाहस्रीविषयानुक्रमणिका

गद्यप्रबन्धः

१. शिष्यप्रतिबोधविधिप्रकरणं प्रथमम्

वाक्यसंख्याः

| | | |
|--|------|-------|
| चिकीर्षितप्रतिज्ञापूर्वकं शास्त्रीयानुबन्धसंग्रहः | | १ |
| संग्रहेणोक्तस्यार्थस्य विवरणम्. | | २ |
| गुरूपसत्तिः कार्येत्यभ्यनुज्ञा. | | ३ |
| पुनःपुनर्गुरूपदेशे हेतुः | | ४ |
| ज्ञानोदयहेतुजातोपदेशः | | ५ |
| गुरुकर्तृकोपदेशक्रमः | | ६ |
| श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च ब्रह्मणो लक्षणं ग्राहयेत् | | ७-८ |
| उपदेशानन्तरं मतिनैश्चल्याय शिष्यं पुनःपुनः | | ९ |
| पृच्छेदित्याचार्यकृत्यम्. | | १० |
| अप्रतिपत्त्यादिदोषात् शिष्यस्योत्तरम्. | | ११ |
| पुनरुपदेशेन तादृशं दोषं त्याजयत्याचार्यः | | १२ |
| स्थूलदेहमिमानत्यागानन्तरं शिष्यस्योक्तिः | | १३-१५ |
| शिष्यप्रशंसापूर्वकमाचार्यस्योत्तरम्. | | १६ |
| उक्तार्थवैशद्याय शिष्यप्रश्नोत्थापनम्. | | १७ |
| गुरोरुत्तरदानाय प्रवृत्तिः | | १८ |
| शरीरस्य भिन्नजात्यन्वयसंस्कारत्वज्ञापनायोपपत्तिप्रकारः | | १९-२१ |
| शरीरोत्पत्त्युपदेशः | | |

| | | |
|---|-------|-------|
| सूक्ष्मशरीराभिमानत्याजनम्. | | २२-२३ |
| परमात्मा वै क्षेत्रज्ञ इत्यत्र स्मृतयः | | २४ |
| परजीवयोरभेदे अनुभवविरोध इति शङ्कानिरासपूर्वकं भेददृष्टेर्निन्दा. | | २५-२७ |
| अभेददृष्टिप्रशंसापूर्वकं ससाधनस्य कर्मणः प्रतिषेधोपपादनम्. | २८-३२ | |
| उक्तमेव ब्रह्मात्मैक्यं युक्त्या व्यवस्थापयति | | ३३-३५ |
| वेदनादीनामनात्मधर्मत्वोपपादनम्. | | ३६-३८ |
| ब्रह्मात्मैकत्वे लौकिकवैदिकव्यवहारविरोधशङ्का. | | ३९ |
| अत्राचार्यकृतं समाधानम्. | | ४० |
| कर्मकाण्डाप्रामाण्यशङ्कापरिहारौ. | | ४१-४२ |
| अविद्योन्मूलनफलम्. | | ४३ |
| मुमुक्षायामुत्पन्नायां ससाधनकर्मत्यागनिगमनम्. | | ४४ |

२. कूटस्थाद्वयात्मबोधप्रकरणं द्वितीयम्

| | | |
|---|------|-------|
| कृतसंन्यासस्य मुमुक्षोः कृत्यं श्रवणं विधितः सूचयन् | | |
| संसारविषयकशिष्यप्रश्नानवतारयति. | | ४५ |
| शिष्याश्वासनपूर्वकं गुरोरुत्तरम्. | | ४६-४८ |
| पुनः विशेषबुमुत्तया विनेयप्रश्नः अविद्याविषयकः | | ४९ |
| गुरोरुत्तरम्. | | ५० |
| अध्यासानुपपत्तिप्रदर्शनपूर्वकं शिष्यप्रश्नः. | | ५१ |
| गुरोरुत्तरम्. | | ५२-५४ |
| अध्यस्तत्वादात्मनः सत्त्वानुपपत्तिरिति शिष्यशङ्का. | | ५५ |
| अत्रोत्तरम्. | | ५६ |

| | |
|--|---------|
| वैनाशिकपक्षप्राप्तिदोषशङ्कापरिहारौ. | ५७-५८ |
| परमते दूषणमापादयति. | ५९ |
| प्रकारान्तरेणाध्यासानुपपत्तिशङ्कापरिहारौ. | ६०-७३ |
| कूटस्थविषयसंशयपरिहारौ. | ७४-७५ |
| उपलब्धत्वेन कूटस्थत्वानुपपत्तिशङ्कापरिहारौ. | ७६-८५ |
| अवस्थान्नयसाक्षितया कूटस्थत्वानुपपत्तिशङ्कापरिहारौ. | ८६-९२ |
| संविदः नित्यत्वाक्षेपपरिहारौ. | ९३-१०१ |
| प्रमातृत्वानुपपत्तिशङ्कापरिहारौ..... | १०२-१०३ |
| कर्तृत्वाक्षेपपरिहारौ. | १०४-१०७ |
| अवगतेः कूटस्थत्वफलत्वयोः विरोधशङ्कापरिहारौ. | १०८ |
| द्वैतस्य मृषात्वप्रकटनम्. | १०९-१११ |

३. परिसंख्यानप्रकरणं तृतीयम्.

| | |
|---|---------|
| सोपस्कारपरिसंख्यानप्रकारोपदेशः | ११२-११३ |
| शब्दादिभिरात्मनोऽनभिभवानुचिन्तनम्. | ११४-११५ |
| शब्दाद्यनुभवानुचिन्तनं-आत्मनोऽविकारित्वानुचिन्तनं च | ११६ |

समाप्ता चेयं पूर्वभागस्यानुक्रमणी ।

पद्यप्रबन्धस्य प्रतिप्रकरणं विषयसूची.

१. उपोद्धातप्रकरणम्.

श्लोकसंख्या.

| | | |
|---|------|-------|
| मङ्गलाचारपूर्वकं ब्रह्मविद्यारम्भसमर्थनम्. | | १—५ |
| ज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वम्. | | ६—७ |
| ज्ञानकर्मसमुच्चयवादः तन्निरासश्च. | | ८—१५ |
| कर्मकाण्डाप्राप्ताप्यशङ्कापरिहारौ. | | १६—१७ |
| अविद्यायाः पुनरनुद्भवः | | १८—१९ |
| विद्यायाः सहकारिनिरपेक्षत्वेनैव मोक्षहेतुत्वम्. | | २०—२४ |
| उपनिषच्छब्दार्थकथनम्. | | २५—२६ |

२. आत्मज्ञानोत्पत्तिप्रकरणम्.

| | | |
|--|------|-----|
| ब्रह्मात्मज्ञानस्य वाक्यादनुत्पत्तिशङ्कापरिहारः | | १—२ |
| उत्पन्नस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षादिबाध्यत्वशङ्कापरिहारः | | २—४ |

३. ईश्वरात्मप्रकरणम्.

| | | |
|--------------------------------------|------|-----|
| जीवब्रह्मणोरभेदः | | १—२ |
| अभेदाभावे श्रुत्यनुपपत्तिप्रदर्शनम्. | | ३—४ |

१ यद्यपीयमुत्तरभागानुक्रमणी द्वितीयभागीया नात्रावश्यकी तथाप्यग्रिमसंस्करणे गद्यपद्योभयभागसंयोजनेऽतीवोपयुक्ता स्यादिति मुद्र्यते ।

४. तत्त्वज्ञानस्वभावप्रकरणम्.

| | | |
|---|-----|--|
| आत्मनो ज्ञानं न मोक्षसाधनं संचितानेककर्मप्रतिबन्धा- | | |
| दिति शङ्का. | १—२ | |
| प्रारब्धकर्मफलावसाने ज्ञानोत्पत्तिरिति तत्रोत्तरम् | ३—५ | |

५. बुद्ध्यपराधप्रकरणम्.

| | |
|---|-----|
| सर्वस्य जन्तोरात्मज्ञानाग्रहे उदङ्कस्याख्यायिका. | १ |
| संसारविभ्रमकारणं प्रमाणं च. | २—४ |
| पदार्थविवेकवता भाव्यं मुमुक्षुणा. | ५ |

६. विशेषापोहप्रकरणम्.

| | |
|---|-----|
| स्थूलोपायेन पदार्थशोधनप्रकारोपदेशः | १—२ |
| विशेषणानामनात्मत्वम्. | ३—४ |
| आत्मनोऽन्यनिरपेक्षा स्वतःसिद्धिः | ५—६ |

७. बुद्ध्यारूढप्रकरणम्.

| | |
|---|-----|
| बुद्ध्यारूढस्यार्थस्य स्वानुभाववष्टम्भेन स्पष्टीकरणम्. | १—२ |
| आत्मनो विकारित्वादिदोषाभावोपपादनम् | ३—४ |
| आत्मनः शुद्धत्वमद्वितीयत्वं च | ५—६ |

८. सतिविलापनप्रकरणम्.

| | |
|--|-----|
| बुद्ध्यआत्मनोः संवादरूपेण बुद्धेः प्रशमोपदेशः | १—४ |
| एतत्प्रकरणनिर्माणे निमित्तम्. | ५—६ |

९. सूक्ष्मताव्यापिताप्रकरणम्.

| | | |
|--|------|-----|
| आत्मनो निरतिशयं सूक्ष्मत्वं व्यापित्वं च | | १—३ |
| ब्रह्मादीनामात्मानं प्रति शरीरत्वम्. | | ४—६ |
| स्वरूपज्ञानस्य निर्विषयत्वं नित्यत्वं च. | | ७—९ |

१०. दृशिस्वरूपपरमार्थदर्शनप्रकरणम्.

| | | | | |
|--|------|------|------|-------|
| आत्मनो निर्विषयज्ञानस्वभावत्वस्य स्वानुभवामिनयेन प्रकटनम्. | | | | १—२ |
| जन्मजरादिविक्रियाभावेन कूटस्थाद्वयस्वाभाव्यं श्रुति- प्रदर्शनपूर्वकमुपपादयति. | | | | ३—९ |
| आत्मतत्त्वपरिज्ञानस्य कैवल्यं फलम्. | | | | १०—१२ |
| आत्मविदः स्वरूपम्. | | | | १३—१४ |

११. ईक्षितृत्वप्रकरणम्.

| | | | | |
|---|------|------|------|-------|
| कर्मणः, कर्मसहितज्ञानस्य वा मोक्षहेतुत्वशङ्कानिरासः | | | | १—३ |
| द्वैताभावे प्रत्यक्षादिविरोधनिराकरणम्. | | | | ४—१४ |
| कर्मणो मोक्षहेतुतायामनुपपत्तिः | | | | १५—१६ |

१२. प्रकाशप्रकरणम्.

| | | | | |
|---|------|------|------|-------|
| आत्मनः साभासान्तःकरणाविवेकाद्यात्मात्म्याज्ञानम्. | | | | १—४ |
| आत्मनो याथात्म्यज्ञानसिद्ध्यै तत्त्वमिति श्रुत्युपदेशः | | | | ५—१५ |
| चिप्रत्काशस्य नित्यत्वोपपादनपूर्वकमात्मनो नियोज्य. त्वाभावप्रतिपादनम्. | | | | १६—१९ |

१३. अचक्षुष्टप्रकरणम्.

| | | |
|--|------|-------|
| आत्मनः शुद्धत्वाच्चलत्वादिव्यवस्थापनम्. | | १-१० |
| संसारनिवृत्त्युपायं ब्रुवन् मुमुक्षुं शिक्षयति | | ११-१३ |
| अविकारित्वात् विक्षेपः समाधिश्च न स्तः | | १४-१८ |
| आत्मनः पूर्णत्वम् | | १९-२४ |
| अहं ब्रह्मासीति सदानुसंदध्यादिति मुमुक्षुं प्रोत्साहयति. | | २५-२६ |

१४. स्वप्नस्मृतिप्रकरणम्.

| | | |
|--|------|-------|
| अन्तःकरणस्यापरोक्षत्वं तत्फलम्. | | १-१० |
| आत्मनि हेयाद्यभावः अनुभवेनाप्यवगम्यते. | | ११-१५ |
| मोक्षाय स्मृतिः कर्तव्या. | | १६-१९ |
| ब्रह्मणोऽक्षरत्वम्. | | २०-२२ |
| आत्मविदः सफलं कर्मेतिशङ्कावास्पृशम्. | | २३-२६ |
| आत्मज्ञस्य फलम्. | | २७-२९ |
| आत्मनोऽकार्यशेषत्वम्. | | ३०-४० |
| आत्मनो देहद्वयविविक्तत्वम्. | | ४१-६० |

१५. नान्यदन्यत्प्रकरणम्.

स्वभावाशुद्धात्मा साधनविशेषेण शुद्धो भवतीति केषांचि-

| | | |
|---|------|-------|
| न्मतं निरस्यति. | | १-३ |
| आत्मनः साक्षित्वम्. | | ४-६ |
| विदुषः क्रियात्यागः स्मर्तव्यमात्मरूपं च | | ७-१८ |
| ब्रह्म प्रतिपत्तुं पदार्थविवेकं कुर्यान्मुमुक्षुः | | १९-२१ |

| | |
|--|-------|
| जागराद्यवस्थाः तत्साक्षी आत्मा च. | २२-३५ |
| मुमुक्षोः कर्तव्योपदेशः | ३६-३९ |
| स्वयंप्रकाशत्वं ज्ञेयत्वाभावश्च. | ४० |

१६. पार्थिवप्रकरणम्.

| | |
|--|-------|
| स्थूलशरीरात्मवादिमतनिराकरणम्. | १ |
| इन्द्रियात्मवादिमतनिराकरणम्. | २-३ |
| बुद्ध्यात्मवादिमतनिराकरणम्. | ४-१४ |
| शून्यात्मवादिमतनिराकरणम्. | १५-२१ |
| दिगम्बरमतनिराकरणम्. | २२ |
| शाक्यमतनिराकरणम्. | २३-२९ |
| शून्यमतनिराकरणाय स्वमतसामञ्जस्यम्. | ३०-४८ |
| प्रधानपुरुषयोः संबन्धाभावप्रपञ्चनम्. | ४९-५० |
| वैशेषिकमतप्रक्रियादूषणम्. | ५१-५७ |
| बन्धस्याज्ञानात्मकत्वम्. | ५८-६१ |
| भोक्षस्वरूपम्. | ६२-६७ |
| परपक्षनिराकरणं संक्षिप्य स्वमतोपसंहारः. | ६८-७४ |

१७. सम्यग्ज्ञातिप्रकरणम्.

| | |
|--------------------------------|-------|
| गुरुदेवतानमस्कारः | १-३ |
| आत्मलोकस्य परत्वम्. | ४-६ |
| आत्मनो ब्रह्मणश्चैकत्वम्. | १०-२१ |
| चित्तस्य तपोभिः शोधनम्. | २२-२६ |

| | |
|--|-------|
| मायाकल्पितमात्मनो बहुत्वम्. | २७-३२ |
| बुद्धौ आत्मनो ग्रहणं नित्यत्वादिकं च. | ३३-४२ |
| कर्मणां त्याज्यत्वम्. | ४३-५१ |
| गुरूपसत्तिः. | ५२-५३ |
| पदार्थविवेकः. | ५४-५६ |
| प्रतिबुद्धस्य मुमुक्षोरनुसन्धानप्रकारः. | ५७-८१ |
| उक्तस्य प्रकरणार्थस्योपसंहारः. | ८२-८९ |

१८. तत्त्वमसिप्रकरणम्.

| | |
|---|-------|
| गुरुनमस्कारपूर्वकं संप्रदायशुद्धिरभिहिता. | १-२ |
| तत्त्वमस्यादिवाक्यादेवापरोक्षज्ञानमनर्थनिवृत्तिफलमुत्पद्यते. | ३-८ |
| प्रसंख्यानवादिमतमुत्थापयति. | ९-१८ |
| खसिद्धान्तं दर्शयति. | १९-२३ |
| आत्मनः प्रत्ययागोचरत्वम्. | २४-२७ |
| शब्दागोचरत्वम्. | २८-३३ |
| एकदेशिमतानि दूषयितुं संगृह्णाति. | ३४-३६ |
| आभासनिरूपणपूर्वकं चिच्छायावादिप्रभृतिमत- निराकरणम्. | ४७-५० |
| आत्मनि जानात्यादिशब्दव्यवहारानुपपत्तिशङ्का. | ५१-५६ |
| एतत्परिहारः. | ५७-६१ |
| बुद्धिविषये तार्किकसौगतादिमतनिरासः. | ६७-७४ |
| आभासविषये शङ्कापरिहारौ. | ७५-९० |
| युष्मदसाद्विवेकः. | ९१-९८ |

विज्ञातपदार्थतत्त्वे पुरुषे महावाक्यं फलवद्विज्ञानं

| | | | |
|---|------|------|---------|
| जनयति | | | ९९-१०४ |
| प्रतिपत्तव्यार्थस्वभावनिरूपणम्. | | | १०५-१४० |
| विज्ञानवादिबौद्धमतनिराकरणम्. | | | १४१-१५२ |
| प्रत्ययाध्यक्षयोः संबन्धः | | | १५३-१५९ |
| विवेकाविवेकयोः बाध्यबाधकभावः | | | १६०-१७२ |
| तत्त्वंपदयोरेकार्थत्वे पर्यायत्वादिशङ्कापरिहारः | | | १७३-१८० |
| त्वंपदार्थविवेकः | | | १८१-१८३ |
| तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थविचारः | | | १८४-२०५ |
| अकारान्तरेण प्रसंख्यानप्राप्तिनिरासः | | | २०६-२२९ |
| अकरणार्थोपसंहारः | | | २३०-२३३ |

१९. भेषजप्रयोगप्रकरणम्.

| | |
|--|-------|
| संसारस्य मनोध्यासनिबन्धनत्वद्योतनायात्ममनःसंवादः | १-८ |
| आत्मनोऽद्वितीयत्वम्. | ९-१२ |
| आत्मनो विकल्पनाद्यविषयत्वम्. | १३ |
| विचारः अद्वैतनिश्चयहेतुः | १४-१८ |
| उक्तार्थनिश्चयशून्यानामनर्थप्राप्तिः | १९-२० |
| वस्तुमात्रस्य कारणत्वकार्यत्वयोः निरासः | २१-२४ |
| द्वैताभासनिरूपणम् मङ्गलं च. | २५-२८ |

समाप्तेयमपरमागस्य विषयसूची ।



श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीता
उपदेशसाहस्री ।

श्रीरामतीर्थविरचितपदयोजनिकाख्यव्याख्यायुता ।

(गद्यप्रबन्धः प्रथमोभागः ।)

शिष्यप्रतिबोधविधिप्रकरणम् १

प्रणम्य रामाभिधमात्मधीपदं जगत्प्रसूतिस्थितिसंयमायनम् ।

तदात्मकान्शंकरपूर्वकान्गुरुन्मयोपदेशार्थविभाग उच्यते ॥ १ ॥

इह भगवत्पादाभिधो भगवान् भाष्यकारः सर्वोपनिषदर्थसारसं-
ग्राहिकमुपदेशसाहस्रीं गद्यपद्यविभागग्रन्थरचनया प्रकटीकुर्वन्नादौ
गद्यबन्धमारभमाणः प्रारिप्सितपरिसमाप्तिप्रचयगमनादिप्रयोजनं शि-
ष्टाचारविशेषपरिप्राप्तं मङ्गलमाचरति—

अथ मोक्षसाधनोपदेशविधिं व्याख्यास्यामो सुमुख्यं
श्रद्धानानामर्थिनामर्थाय ॥ १ ॥

अथेति—‘ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं
मित्र्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥’ इति स्मृतौ अथशब्दस्य

माङ्गलिकत्वावगमात् । अथवा आनन्तर्यार्थं एवायमथशब्दः
 उच्चारमात्रेण मङ्गलप्रयोजनोऽपि भवति—अन्यार्थं क्रियमाण-
 मृदङ्गादिध्वनिश्रवणादिवत् । किमानन्तर्यार्थेति चेत्—विस्तरे-
 णानेकशास्त्रार्थनिबन्धनिर्माणानन्तर्यार्थेति वदामः । प्रश्नप्रतिवचना-
 क्षेपसमाधानप्रकारैः अनेकप्रमाणयुक्तिविशेषैः निपुणतरमवधारिते
 समस्तोपनिषच्छास्त्रार्थे अनेकवाक्ययुक्त्यनुसंधानव्यवधानमन्तरेण
 साक्षादनुभवोदयाय संग्रहनिरूपणप्रवृत्त्युपपत्तेरिति । अत्र चिकी-
 र्षितं प्रतिजानानः प्रवृत्त्यङ्गतया शास्त्रीयानुबन्धजातं संगृह्णाति—
 मोक्षसाधनेति । अथ विस्तरेण शास्त्रार्थनिरूपणानन्तरं मोक्षो
 निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मताविर्भावः तस्य साधनं औपनिषदाद्वितीयात्मतत्त्व-
 ज्ञानं तस्य उपदेशः उपदेशनमुपदेशः तदर्थवाक्यानामर्थविभागेन
 शिष्यं प्रति प्रतिपादनं तस्य विधिः प्रकारविशेषः तं विस्पष्टं आख्या-
 स्यामः कथयिष्यामः । मोक्षशब्देन प्रत्यक्तत्वं ब्रह्मविषयो निर्दिष्टः ।
 साधनशब्देन तत्त्वज्ञानस्योक्तत्वात्—तत्साध्याज्ञानादिबन्धनिवृत्तिः
 प्रयोजनं सूचितम् । उपदेशविधिः शब्देन संबन्धो बोध्यबोधकलक्षणः
 शास्त्रविषयो दर्शितः । इदानीं अधिकारिणमाह—मुमुक्षूणामिति ।
 मुमुक्षूणां मोक्षमात्रमिच्छतामिति । अनेन ऐहिकामुष्मिकार्थतृष्णा-
 लेशवतामप्यत्रानधिकार इति सूचितम् । श्रद्धधानानां । अस्मिन्नुप-
 देशशास्त्रार्थे विश्वासवतामिति । अनेन मुमुक्षवोऽपि सन्तो ये कर्मसु
 अन्यशास्त्रेष्वपि वा श्रद्धयते तेषामिहानधिकारः सूच्यते । अर्थिनां
 एतच्छास्त्रार्थज्ञानार्थिनामिति । अनेन श्रद्धधाना अपि ये पाण्डित्य-
 विस्तरप्रवणमतयः तेषामिहानधिकारो ध्वनितः । तथाच—एवंविधा-
 नामधिकारिणां अर्थाय उपकाराय व्याख्यास्याम इत्यन्वयः ॥ १ ॥

संग्रहेण उक्तमर्थं विवृणोति—

तदिदं मोक्षसाधनं ज्ञानं साधनसाध्यादनित्यात्सर्व-
स्माद्विरक्ताय त्यक्तपुत्रवित्तलोकैषणाय प्रतिपन्नपरमहंस-
पारित्राज्याय शमदमदयादियुक्ताय शास्त्रप्रसिद्धशिष्य-
गुणसंपन्नाय शुचये ब्राह्मणाय विधिवदुपसन्नाय शिष्याय
जातिकर्मवृत्तविद्याऽभिजनैः परीक्षिताय ब्रूयात् पुनःपुनः
यावद्ब्रह्मणं दृढीभवति ॥ २ ॥

तदिदमिति । तदिदं मोक्षसाधनं ज्ञानं विधिवदुपसन्नाय शिष्याय
ब्रूयात् इत्यन्वयः । तत् ग्रन्थान्तरेषु विस्तरेण प्रतिपादितं । इदं इदानीं
इह वक्ष्यमाणमित्यर्थः । किं तत् मोक्षसाधनं सहेतुबन्धनिवृत्त्या ब्रह्मा-
त्माविर्भावस्य निमित्तं यदुक्तं तदिदं ज्ञानं वक्ष्यमाणमित्यर्थः । मोक्षसा-
धनपदं व्याख्यातम् । उपदेशविधिपदमग्रे शिष्याचार्यप्रश्नादिपरम्परया
व्याख्यास्यन् मुमुक्षूणामित्याद्युक्तमधिकारिणं व्याचष्टे—साधनेत्यादिना ।
संग्रहे अधिकारिबहुत्वनिर्देशः प्रदर्शनार्थः, नतु विवक्षितः अतएव
विवरणे एकवचनम् । एकात्मवादे बहूनां निरपेक्षाणां मुमुक्षूणां
असंभवादिति । ‘नाविरक्ताय संसारान्नानिरस्तैषणाय च’ इत्यादि-
शास्त्रमुरीकृत्याह—साधनसाध्यादिति । साधनैः दृष्टादृष्टार्थैः
कृप्यादियागादिभिः साध्यात् ऐहिकादामुष्मिकाच्च भोग्यजातात्—
अतएव अनित्यात् अशाश्वतात् सर्वस्मात् ब्रह्मलोकान्तादपि विरक्ताय
विगतरागाय निवृत्ताभिलाषायेत्यर्थः । कथमवगम्यते अयं विरक्त
इत्यपेक्षायां विशेषणान्तरेण विरक्तचिह्नमाह—त्यक्तेति । अत्र
एषणाशब्देन कामापरपर्यायेण तत्प्रयुक्ता प्रवृत्तिर्लक्ष्यते । तत्र पुनार्थ
दारसंग्रहे प्रवृत्तिः पुत्रैषणा । कर्माद्यनुष्ठानार्थं अपरविद्यागवादिरूपो-

भयविधवित्तंपरिग्रहो वित्तैषणा । पुत्रकर्मापरविद्यासाध्य-एतल्लोक-पि-
 तृलोक-देवलोक-फलैषणा लोकैषणा । एता एषणाः त्यक्ता येन
 तस्मै । साधनेषु प्रवृत्त्यैस्तु क्यत्यागादेव साध्याभिलाषशून्यता गम्यत
 इत्यर्थः । तथाच श्रुतिः—‘न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके
 अमृतत्वमानशुः’ इति । इदानीं—‘एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः
 प्रव्रजन्ति’, ‘तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्’
 इत्यादिशास्त्रमनुरुध्याह—प्रतिपन्नेति । परमहंसविशेषणं कुटीच-
 कादिस्मार्तसंन्यासिव्यावृत्त्यर्थम् । नहि द्वैताद्वैतवादिनां अद्वितीया-
 त्मतत्त्वोपदेशग्रहणाधिकार इति भावः । एतावता मुमुक्षुपदं व्याख्या-
 तम् । अत्रापि आश्रमधर्ममात्रनिष्ठस्य अधिकारो नास्ति इति विव-
 क्षन् पुनः विशिनष्टि—शमदमदयादियुक्तायेति । शमः अन्तःक-
 रणस्य अनात्मविषयेभ्यो व्यावृत्तिः । दमः बाह्येन्द्रियाणाम् । दया
 भूतेष्वद्रोहः । आदिपदेन उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धाः संगृ-
 ह्यन्ते । एतेन श्रद्धानानामित्येतत् व्याख्यातम् । ‘अमान्यमत्सरो
 दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः । असत्त्वरोऽर्थजिज्ञासुरनुसूयुरमोघवाक् ॥’
 इत्यादिवचनमनुसृत्य पुनर्विशिनष्टि—शास्त्रप्रसिद्धेति । एतेनार्थि-
 नामिति व्याख्यातम्—‘नाशुचिर्ब्रह्म कीर्तयेत्’, ‘त्रिसंध्यादौ स्नान-
 माचरेत्’ इत्यादिशास्त्रमाश्रित्याह—शुचय इति । सवाह्याभ्यन्त-
 रशौचसंपन्नायेत्यर्थः । ‘ब्राह्मणो निर्वेदमायात्’, ‘एतद्ध स्म वै
 तत्पूर्वे (ब्राह्मणा अनूचाना) विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, एतं
 वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः’ इत्यादिशास्त्राप्यनुसृत्याह—ब्राह्म-
 णायेति । विविदिषवोऽपि क्षत्रियादयो न पारमहंस्ये संन्यासधर्मे अधि-
 क्रियन्त इति भावः । अतएव उत्पन्नज्ञाना अपि जनकादयो न गार्हस्थ्यं
 परित्यक्तवन्त इति श्रूयते । इदं च शास्त्रं यथोक्तसंन्यासाधिकारिकमेव

नाश्रमान्तराधिकारिकम् । आश्रमान्तरस्य प्रवृत्तिधर्मपरत्वेन तदत्यागे तद्विरुद्धनिवृत्तिनिष्ठापरत्वायोगात्, त्यागे च आश्रमान्तरसनुपपत्तेः । वक्ष्यति च भगवान्भाष्यकारः—‘अहं ब्रह्मास्मि कर्ता च भोक्ता चास्मीति ये विदुः । ते नष्टा ज्ञानकर्मभ्यां नास्तिकाः स्युर्न संशयः ॥’ इति ‘संन्यासिभ्यः प्रवक्तव्यः शान्तेभ्यः शिष्टबुद्धिना ।’ इति च । अतः पारिव्राज्यविशेषणं नित्याधिकारित्वरूपापनार्थं, नाश्रमान्तरव्यावृत्त्यर्थं इति केषांचित् व्याख्यानं चिन्त्यम् । ‘तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्’ इत्यादिश्रुतिमाश्रित्याह—विधिवदुपसन्नायेति । विद्याग्रहणार्थं गुरुपादग्रहणपूर्वकं ‘अधीहि भगवः’ इत्यादिमन्त्रोच्चारणेन अभिसंवादनं उपसत्तिः तां कृतवते इत्यर्थः । शिष्याय शासनार्हाय पूर्वश्रुतत्वादिनिमित्तौद्धत्यरहिताय विनययुक्तायेत्यर्थः । ‘किंगोत्रो नु सोम्यासि’, ‘तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा श्रद्धया ब्रह्मचर्येण संवत्सरं संवत्स्यथ’, ‘नासंवत्सरवासिने प्रब्रूयात्’ इति श्रौतलिङ्गमवष्टभ्याह—जातिकर्मेत्यादिना । जातिपरीक्षणं कुण्डगोलकक्षत्रियादिव्यावृत्त्यर्थम् । कर्मपरीक्षणं पतितत्वाभिश्चस्तत्वादिराहित्येन शिष्टताज्ञानाय । वृत्तमाचारः शीलं वा तत्परीक्षणं विद्याग्रहणोत्तरकालमपि तत्परिपालनयोग्यताज्ञानार्थम् । विद्या पूर्वाधीतवेदशास्त्रादिरूपा उपास्यदेवतादिविशेषविषया वा, सापि परीक्षणीया उक्तार्थग्रहणधारणादियोग्यत्वायोग्यत्वनिश्चयाय । तथाच श्रुतिः—‘नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः’ इति । अभिजनः कुलं जन्म स्थानं तदपि परीक्षणीयम् । मातापितृभ्यां गुरुभिश्च शिक्षितत्वाशिक्षितत्वज्ञानार्थं—‘यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्’ इति श्रौतलिङ्गात् । एवंविशिष्टाय शिष्याय ब्रूयात् इत्याचार्यं शिक्षयति । उपदेशस्य दृष्टार्थतामभिप्रेत्याह—पुनः

पुनरिति । अवधिमाह—यावद्ग्रहणं दृढीभवतीति । शिष्यस्येति शेषः ॥ २ ॥

एवमुक्तविशेषणेन शिष्येण गुरूपसत्तिः कार्या—गुरुश्च तमुपदि-
शेद्विद्याम् इत्युक्तेऽर्थे श्रुतिमुदाहरति—

श्रुतिश्च—‘परीक्ष्य लोकान्’, ‘तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्—’
इति । दृढगृहीता हि विद्या आत्मनः श्रेयसे संतत्यै च
भवति । विद्यासंततिश्च प्राण्यनुग्रहाय भवति नौरिव नदीं
तितीर्षोः । शास्त्रं च—‘यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां
धनस्य पूर्णां दद्यात् एतदेव ततो भूयः’ इति । अन्यथा
च ज्ञानप्राप्त्यभावात्—‘आचार्यवान् पुरुषो वेद’, ‘आ-
चार्याद्वैव विद्या विदिता’, ‘आचार्यः प्लावयिता’ सम्य-
ग्ज्ञानं प्लव इहोच्यते । इत्यादिश्रुतिभ्यः, ‘उपदेक्ष्यन्ति ते
ज्ञानं’ इत्यादिस्मृतेश्च ॥ २ ॥

श्रुतिश्चेति । ‘परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमा-
यात्’ इत्युपक्रम्य—‘येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो
ब्रह्मविद्याम्’ इत्यन्तेन ग्रन्थेन । उक्तोऽर्थो निरूपित इत्यर्थः ।
शिष्यस्य दृढग्रहणपर्यन्तं गुरुणा पुनःपुनर्विद्योपदेष्टव्येत्यत्र हेतुमा-
ह—दृढगृहीता हीति । आत्मनः श्रेयः अविद्यादिदोषसंसारनिवृ-
त्तिः । संततिः शिष्यप्रशिष्यादिसंचारेण विद्याया अविच्छेदः ।
विद्यासन्ततेः कोपयोग इत्यत्राह—विद्येति । यथा नदीतरणाय
तत्र प्रविष्टस्य अगाधे जले निमज्जतो नरस्य पारं प्रापयितुं नौरुपस्था-
प्यते कृपालुना, तथा संसारसागरे निमज्जतः प्राणिनः उद्धरणेन

तत्पारं विष्णोः परमं पदं प्रापयितुं विद्यासन्तानसंरक्षणमित्यर्थः । पूर्वोक्तशिष्यगुणसंपन्नाय परीक्षिताय विधिवदुपसन्नायैव विद्या देया न यथाकथंचित्प्राप्ताय धनादिलोभाद्वेति गुरोर्नियमार्थं श्रुतिशासनमुदाहरति—शास्त्रं चेति । नियामकं शास्त्रं च अत्रास्तीत्यर्थः । तदेवाह—यद्यपीति । इमां पृथिवीं अद्भिः परिगृहीतां समुद्रपरिवेष्टितां धनस्य पूर्णां वित्तेनोपचितां दद्यात् कश्चिद्यद्यपि तथापि नैतद्दर्शनं तस्मै दद्यात् । यतः एतत् ततो वित्तपूर्णपृथिवीदानादपि भूयः अधिकतरमिति योजना । नह्याकाशादिसमस्तभूतभौतिकाधिष्ठानस्य ततोऽप्यधिकतरस्यापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणो दानस्येदमनुरूपमिति भावः । तथाच श्रुतिः—‘पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि’ इति । तदेवमाचार्येण परीक्षिताय शिष्याय कृपयैव विद्या वक्तव्येत्युक्तम् । तत्र किमाचार्योपगमेन कार्यं—स्वयमेव जिज्ञासोः न्यायाद्यनुसरणतो विद्योदयसंभवात् इति शङ्कायामाह—अन्यथेति । यद्वा—किमिति एवं संकटमवष्टभ्य आचार्येण विद्या देया, शिष्यः स्वयमेव तां किं न नयति (इत्यत आह)—आचार्यवानित्यादिना । ‘आचार्याद्वैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्’ इति वाक्यशेषः । आदिपदात् ‘तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥’ इत्यादिवचनं गृह्यते । तथाच अतिसूक्ष्मपरमार्थनिर्णयस्य स्वबुद्धिसामर्थ्यमात्रेण संपादयितुं अशक्यत्वमेतैर्वाक्यैर्गम्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु जिज्ञासोः उक्तविशेषणस्य शिष्यस्य सकृदुपदेशग्रहणादेव विद्यादाढ्योपपत्तेः किमिति पुनःपुनरुपदेशः कार्य इत्युक्तमत आह—

शिष्यस्य ज्ञानाग्रहणं च लिङ्गैर्बुध्वा अग्रहणे हेतून्

अधर्म—लौकिक—प्रमाद—नित्यानित्यविवेकविषयासंजात-
दृढपूर्वश्रुतत्व—लोकचिन्तावेक्षण—जात्याद्यभिमानादीन्
तत्प्रतिपक्षैः श्रुतिस्मृतिविहितैः अपनयेत् अक्रोधादि-
भिरहिंसादिभिश्च यमैः ज्ञानाविरुद्धैश्च नियमैः ॥ ४ ॥

शिष्यस्येति । शिष्यस्य ज्ञानाग्रहणं चकाराद्विपर्ययग्रहणं च
मुखादिचेष्टावचनव्यक्त्यादिलिङ्गैर्बुद्ध्वा अग्रहणादिहेतून् तत्प्रतिपक्षैः
तन्निवर्तकैः श्रुतिस्मृतिविहितैः अपनयेत् इति संबन्धः । तानेवा-
ह—अधर्मेत्यादिना । अधर्मः संचितः । लौकिकः इदानींतनः ।
प्रमादः कामचारवादभक्षणादिः । तत्र सूर्यादिदेवतोपासनादिनियमो-
पदेशेन अधर्मक्षपणं कारणीयम् । वर्ज्यावर्ज्यादियतिधर्मशास्त्रेण
प्रमादनिरासः । नित्यानित्यविवेकस्य यो विषयः चेतनाचेतनरूपः
तस्मिन् असंजातं तत्पर्यन्तं न प्रसृतं यद्दृढपूर्वश्रुतत्वं तद्युक्तिविशेषा-
द्युपन्यासेनापनीय विवेकपर्यन्ततां नयेदित्यर्थः । लोकचिन्तावेक्षणं
लोकानां व्यवहारसाधुत्वासाधुत्वविचारलक्षणं, लोकेभ्यः पूजासन्माना-
द्यपेक्षया तत्संसर्गोपरोधेन व्यवहरणं वा । एतच्च वक्ष्यमाणामानित्व-
मदम्भित्वमित्यादिशास्त्रोक्तनिष्ठोपदेशेनापनेतव्यम् । जात्यादि इत्या-
दिपदात् कुलविद्यादि गृह्यते । त्वंपदार्थपरिशोधनोपदेशेन जात्याद्य-
भिमानं त्याजयेदित्यर्थः । अभिमानादीनित्यादिपदेन तत्प्रयुक्तो
व्यवहारः अन्यधिक्ररणादिगृह्यते । अक्रोधादिभिरित्यत्र आदिपदेन
अकामादयो गृह्यन्ते । अहिंसादिभिश्चेत्यादिपदात् सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरि-
ग्रहा गृह्यन्ते । तत्र अक्रोधादीनां अहिंसादीनां उपायोपेयभावेन उपदेशः
बोद्धव्यः । शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा उच्यन्ते
तषां ज्ञानाविरुद्धैरिति विशेषणेन तीर्थयात्राचान्द्रायणोपवासादि-

कर्मकाण्डपरायणबाह्यसाधनक्रियाप्रधानेश्वरपूजानिष्ठादि च यत् ज्ञान-
निष्ठाविक्षेपकरं तस्यानादरणीयतां दर्शयति, यमनियमोपदेशस्तु
सर्वदोषनिराससाधारणोपाय इति द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

एवं ज्ञानग्रहणप्रतिबन्धकनिवर्तकमुपदिश्य ज्ञानोदयहेतुजातमुप-
दिशति—

अमानित्वादिगुणं च ज्ञानोपायं सम्यक् ग्राहयेत् ॥ ५ ॥

अमानित्वादिगुणमिति । आदिपदात् अदम्भित्वादितत्त्वज्ञा-
नार्थदर्शनान्तं गृह्यते । यद्वा अमानित्वेन अदम्भित्वादिकं सहपठितत्वेन
उपलक्ष्य आदिपदेन ‘अद्वेष्टा सर्वभूतानां’ इत्यादिनोक्ता अद्वेष्टत्वादयो
धर्मा ग्राह्याः । अत्र सम्यक्पदं एतन्निष्ठस्य सर्वदोषपरिहारेण अयत्न-
लभ्यं ज्ञानदाढ्यं इति दर्शयितुम् । अयं भावः—नहि सकृद्ग्रहणमात्रात्
विद्या दृढोत्पद्यते । ‘आवृत्तिसकृदुपदेशात्’ इति न्यायात् ।
श्रवणोत्तरकालं मननादिविधानसामर्थ्याच्च । दृढत्वं हि फलपर्यन्तत्वं
विद्याया विवक्षितम् । अतः फलानुकूलतया यावन्निर्विचिकित्सं
तत्संजायते तावद्गुरुणा शिष्यं कृतार्थं कर्तुं प्रवृत्तेन विद्योपयोगार्थं वा
प्रवृत्तेनोपदेशः कार्य एवेति ॥ ५ ॥

एवमाचार्यकृत्यमुक्त्वा तस्य लक्षणमाह—

आचार्यस्तूहापोहग्रहणधारणशमदमदयानुग्रहादिसंप-
न्नो लब्धागमो दृष्टादृष्टभोगेष्वनासक्तः त्यक्तसर्वकर्मसाधनो
ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितोऽभिन्नवृत्तो दम्भदर्पकुहकशाठ्य-
मायामात्सर्यान्ृताहंकारममत्वादिदोषवर्जितः केवलप-
रानुग्रहप्रयोजनो विद्योपयोगार्थी पूर्वमुपदिशेत्— ‘सदेव

सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्', 'यत्र नान्यत्पश्यति', 'आत्मैवेदं सर्वम्', 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्याः आत्मैक्यप्रतिपादनपराः श्रुतीः ॥ ६ ॥

आचार्यस्त्विति । एतच्च तत्त्वजिज्ञासुनाऽधिकारिणा एवंविध आचार्य उपगन्तव्यो नान्यादृश इति दर्शयितुं नतु आचार्येण एवंविधगुणेन भवितव्यं इति नियोगः क्रियते, तस्य कृतार्थत्वादिति द्रष्टव्यम् । शिष्येणानुक्तस्याप्यूहनमूहः उपदेशसमसमयं शिष्यप्रतिपत्त्यनुकूलपूर्वयुक्तिकल्पनं वा, शिष्यस्य मिथ्याग्रहणापाकरणसामर्थ्यमपोहः, सिद्धान्तप्रतिपक्षनिराकरणसामर्थ्यं वा—शिष्यकृतप्रश्नाक्षेपवाक्यार्थानां सद्योऽवधारणसामर्थ्यं ग्रहणम् । गृहीतानां तेषां सारासारावधारणपूर्वकं प्रत्युक्तिसमये स्मरणयोग्यतापादनं धारणम् । शमदमौ व्याख्यातौ । दया दुःखिनं प्रति अनुजिघृक्षा । तदनन्तरं दुःखिनो दुःखापाकरणे प्रवृत्तिरनुग्रहः । आदिशब्दात् उपसन्नस्य विनीतस्यानुगृहीतस्यापरित्यागो गृह्यते । यस्तु—'हिंसानुग्रहयोरनारम्भी' इति गौतमेन संन्यासिधर्मो दर्शितः, यच्च—'न व्याख्यानपरो यतिः' इत्यादिवचनं, तत् ख्यातिलाभपूजापाण्डित्यवृद्ध्यादिहेतुप्रवृत्तिविषयमित्यदोषः । संपन्न इति पूर्वोक्तगुणैराढ्यतोच्यते । लब्धागमः स्वगुरुभ्यः प्राप्तविद्योपदेशः । अनेन विशेषणेन गुरोः सांप्रदायिकत्वमपि शिष्येणान्वेषणीयमिति सूचयति । दृष्टा भोगा ऐहिकाः, अदृष्टाः पारलौकिकाः तेष्वनासक्तः । तत्साधनलोकाराधनतपोयज्ञादिप्रवृत्तिशून्य इत्यर्थः । यतः त्यक्तानि सर्वकर्मणां साधनानि धनदारसंग्रहशिखायज्ञोपवीतादीनि येन स तथा । अतो भोगानास-

क्त इति विदित इत्यर्थः । ब्रह्मवित् महावाक्यार्थप्रत्यगात्मतत्त्वज्ञान-
वानित्यर्थः । तत्किं परोक्षतैव, नेत्याह—ब्रह्मणि स्थित इति ।
ब्रह्मणि स्थितिर्नाम नित्यापरोक्षं ब्रह्मैवाहमस्मीति स्फुटानुभावेनावस्था-
नम् । एवंविधोऽपि न यथेष्टचेष्टावानित्याह—अभिन्नवृत्त इति ।
न भिन्नं नोल्लङ्घितं वृत्तमाचारो येन स तथा—शिष्टविगर्हितो न
भवतीत्यर्थः । दम्भो धर्मध्वजित्वं आत्मनो लोके धार्मिकत्वख्यापन-
मिति यावत् । कुहकं परप्रतारणम् । शाळ्यं नैष्ठुर्यम् । माया परव्या-
मोहनम् । मात्सर्यं गुणेषु दोषख्यापनम् । अनृतं मिथ्याभाषणम् ।
अहंकारो देहाभिमानः । ममत्वं पुत्रशिष्यादिषु स्वत्वाभिमानः ।
एतैर्दम्भादिदोषैर्वर्जित इत्यर्थः । एवंविधस्य किमित्यन्योपदेशो प्रवृत्तिः
इत्यत आह—केवलेति । परस्य संसारसागरान्निर्विण्णस्य यः परम-
पदपारप्रापणरूपोऽनुग्रहः तदेव प्रयोजनं यस्य स तथा । केवलवि-
शेषणेन आनुषङ्गिकमपि प्रयोजनान्तरप्रवृत्तिहेतुं वारयति । तर्हि किं
निर्निमित्तमेव परानुग्रहेऽस्य प्रवृत्तिः उन्मत्तप्रवृत्तिवद्यादृच्छिकी,
नेत्याह—विद्योपयोगार्थीति । उपयोगो विनियोगः ‘चात्वाले
कृष्णविषाणां प्रास्यति’ इत्यादिवत् ‘त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते
त्यज । उभे सत्याऽनृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥’ इत्यत्र
येन ज्ञानेन धर्मादिषु प्रवृत्तिनिरोधेन तानि परित्यजसि तज्ज्ञानं
परित्यज इत्युक्ते ज्ञानस्यामूर्तत्वात् स्वरूपेण त्यागायोगात् विशिष्टे
शिष्ये प्रतिपादनं प्रतिपत्तिकर्म क्रियते । तच्च वस्तुमहिम्ना परानुग्रहतां
प्रतिपद्यत इति भावः । एवंविध आचार्यः पूर्वमुपदिशेदित्युक्तं,
तत्र उपदेशक्रमं दर्शयति । प्रथमं किमुपदिशेत् इत्यपेक्षायां आत्मैकत्व-
प्रतिपादकवाक्यान्युपदिशेत् इति तानि वाक्यानि पठति—सदेवेत्या-
दिना । इत्यात्मैकत्वप्रतिपादनपराः श्रुतीः पूर्वमुपदिशेत् इति संबन्धः ।

‘यत्र नान्यत्पश्यती’त्यत्र ‘नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा’ इति वाक्यशेषः । ‘ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्’ इति शेषः । अत्र सत्—भूमा—आत्मा—ब्रह्मशब्दाः पर्यायाः । अनेकशाखादिगतवाक्योदाहरणम् ‘गतिसामान्यात्’ इति न्यायेन अविरोधतः स्वार्थपरत्वख्यापनार्थम् ॥ ६ ॥

किं तद्ब्रह्मादिशब्दैः वस्तूच्यते कथं च तद्वितीयमवगम्यत इत्यपेक्षायामाह—

उपदिश्य च ग्राहयेत् ब्रह्मणो लक्षणम्—‘य आत्माऽपहतपाप्मा’, ‘यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म’, ‘योऽशनायापिपासे’, ‘नेति नेति’, ‘अस्थूलमनणु’, ‘स एष नेति’, ‘अदृष्टं द्रष्टुं’, ‘विज्ञानमानन्दम्’, ‘सत्यं ज्ञानमनन्तम्’, ‘अदृश्येऽनात्म्ये’, ‘स वा एष महानज आत्मा’, ‘अप्राणो ह्यमनाः’, ‘सवाह्याभ्यन्तरो ह्यजः’, ‘विज्ञानघन एव’, ‘अनन्तरमबाह्यम्’, ‘अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्’, ‘आकाशो वै नाम’ इत्यादिश्रुतिभिः ॥ ७ ॥

उपदिश्य च ग्राहयेद्ब्रह्मणो लक्षणमिति । ‘योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति’ इति शेषः । आनन्दम् अनन्तम् इत्युभयत्र ब्रह्म इति वाक्यशेषः । एवं सर्वत्र वाक्येषु शेषाक्षराणि श्रुतिपरिचयेन पूरणीयानि ग्रन्थभूयस्त्वान्न सर्वत्र प्रदर्श्यन्ते । ‘य आत्मापहतपाप्मा’ इत्यादि प्राजापत्यवाक्येन जाग्रदाद्यवस्थासु द्रष्टृत्वेनानुगतः अवस्थाधर्मरहितोऽशरीरः प्रियाप्रियाभ्यामसंस्पृष्टः प्रत्यगात्मैव परंज्योतिः परंब्रह्म उपास्यं ज्ञेयं च इति प्रकरणार्थोपन्यासेन

प्रत्यग्ब्रह्मैक्यमुपलक्षयेदित्यर्थः । य आत्मा सर्वान्तरो दृष्टेर्बुद्धिवृत्तिलक्षणाया द्रष्टा प्राणनादिव्यापारोपलक्षितः स एव अशनायादिप्राणान्तःकरणशरीरधर्मातीतः साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मेति द्वितीयवाक्यार्थः । 'नेति नेति' इत्यादिवाक्यानां सकलदृश्यप्रविलापनेनाद्वितीयात्मतत्त्वोपलक्षणपरत्वम् । 'अदृष्टं द्रष्टृ' इत्यादिना, 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' इत्यादिवाक्यैः सह सर्वसाक्षिप्रत्यगात्मैव अक्षरं यस्मिन्नव्याकृताकाशादिधरिऽनन्तं जगत् ओतं च प्रोतं च इति तत्त्वंपदार्थपरिशोधनपूर्वकं वाक्यार्थो दर्शितः । तत्र अपूर्वमित्यादिना कार्यकारणत्वादिधर्मरहितत्वेन तत्पदार्थ उपलक्षितः । सर्वानुभूरिति सर्वसाक्षितया त्वंपदार्थः, अयमात्मा ब्रह्म इति वाक्यार्थः इति विभागः । मनःप्राणादिषु प्रकाशकत्वेन प्रेरकत्वेन च उपलक्षितं आत्मतत्त्वं ब्रह्म विदिताविदिताभ्यां कार्यकारणाभ्यामन्यत् इति तत्त्वरूपं निवेद्यते—'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्यनेनेत्यर्थः । कचिदाकाशशब्देनापि ब्रह्म लक्ष्यत इत्याह—आकाशो वै नामेति । नामरूपयोः जगद्बीजभूतयोः अव्याकृतयोः यो निर्वहिता व्याकर्ता ते नामरूपे यदन्तरा यस्य मध्ये वर्तेते न ततः पृथक्स्वतन्त्रे । 'तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' इति वाक्यशेषात् । 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्यत्र आकाशशब्देनापि ब्रह्म लक्ष्यत इत्यर्थः । आदिपदात् 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा प्राण इति होवाच' । इत्याद्याः श्रुतयो गृह्यन्ते ॥ ७ ॥

न केवलं श्रुतिभिरेव ब्रह्मणो लक्षणं ग्राहयेत्—अपि तु स्मृति-
मिश्रेत्याह—

स्मृतिभिश्च—'न जायते म्रियते वा', 'नादत्ते कस्यचित्पापम्', 'यथाऽकाशः स्थितो नित्यम्', 'क्षेत्रज्ञं चापि

मां विद्धि', 'न सत्तन्नासदुच्यते' 'अनादित्वान्निर्गुण-
त्वात्', 'समं सर्वेषु भूतेषु', 'उत्तमः पुरुषः' इत्यादिभिः
श्रुत्युक्तलक्षणाविरुद्धाभिः परमात्मासंसारित्वप्रतिपा-
दनपराभिः तस्य सर्वेणानन्यत्वप्रतिपादनपराभिश्च ॥८॥

स्मृतिभिश्चेति । श्रुत्युक्तलक्षणान्तं च इत्युपलक्षितं तत्त्वमित्यर्थः ।
'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति को न्वेनं जनयेत्पुनः । मर्त्यः स्विन्मृत्युना
वृक्कणः कस्मान्मूलात्प्ररोहति' इति पृष्ठस्य जगन्मूलकारणत्वेनोपलक्षितस्य
स्वरूपं विज्ञानानन्दलक्षणम् इति तत्पदार्थतत्त्वमुपलक्षितमित्यर्थः । एवं
'ब्रह्मविदामोति परम्' इति प्रकृतस्य ब्रह्मणः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'
इति स्वरूपं निर्दिश्य, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः'
इत्यादिना जगत्कारणत्वेनोपलक्ष्य तस्यैव सृष्टेषु कार्यकारणसंघातेषु प्रवेशं
दर्शयित्वा, 'अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते' इत्यादिना प्रपञ्चापवादेन सर्वाधारं
सर्वसाक्षिणमात्मानमानन्दरूपं 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इति 'अथ सोऽभयं
गतो भवति', 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' इति च
तत्त्वमुपलक्षयेदित्यर्थः । 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञा-
नमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी'
इत्यादिना जाग्रदाद्यवस्थाधर्मैः अनन्वागतस्यासङ्गस्य कामाकामाभ्यां
संसारमोक्षावनुभवतो बुद्ध्यादिसाक्षिणश्चिदात्मनः अन्तर्हृदये आका-
शशब्दवाच्याजरामराभयादिलक्षणब्रह्माभेद इति तत्त्वमुपलक्षित-
मित्यर्थः । 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो
ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' इति, 'अथ परा यथा तदक्षरम-
धिगम्यते यत्तदद्रेश्यम्' इत्यादिना ब्राह्मब्राह्मकाद्यनेकोपाधिप्रतिषेधे-
नोपलक्षितस्य सर्वभूतयोनित्वेन च संभावितस्य सर्वज्ञस्य सर्वविदोऽ

मिविस्फुलिङ्गादिवत् जीवरूपेण विभक्तत्वोक्त्या प्राप्तपरिच्छेदशङ्का-
निराकरणेन प्रत्यक्तत्वमुपलक्षितं 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्—'
इत्यन्तेनेत्यर्थः । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति सर्वस्य दृश्यस्य आत्म-
व्यतिरेकेण स्वरूपाभावमुक्तं दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तरूपपाद्य किं तदात्मनः
स्वरूपं इत्यपेक्षायां—'महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' इति
तत्त्वमुपदिष्टमित्यर्थः । 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं', 'अयमा-
त्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' । विरुद्धाभिः इति स्मृतिविशेषणम् । श्रुत्युक्तेऽर्थे
स्मृत्युदाहरणं प्रतिपत्तिदार्ढ्यार्थं न श्रुतेः प्रामाण्यसिद्ध्यर्थम् । विशेषणं
च सांख्यादिस्मृतावतिप्रसङ्गव्यावृत्त्यर्थमिति द्रष्टव्यम् । परमात्मा-
संसारित्वप्रतिपादनपराभिः इत्यादिविशेषणद्वयं श्रुतिस्मृत्योः साधार-
णम् । परमश्चासावात्मा च परमात्मा । परमत्वं च अस्याविद्यातत्कार्य-
संघाततदवस्थासाक्षितया अव्यभिचार्यलुप्तप्रकाशस्वभावत्वम् । तस्या-
संसारित्वप्रतिपादनं संघातादवस्थात्रयोपाधेः सम्यग्विवेचनम् तत्परा-
भिरित्यर्थः । तस्य शोधितस्य त्वंपदार्थस्य सर्वेण सर्वमस्मिन्निति सर्वं
सर्वाधिष्ठानं ब्रह्म तेन अनन्यत्वं तदेकात्मत्वं तत्प्रतिपादनपराभिरित्यर्थः ।
न्यायानुगृहीतश्चेत्यस्मिन्नर्थे चकारः ॥ ८ ॥

एवं वाक्योपदेशेन तदर्थोपलक्षणपरश्रुतिस्मृतिव्याख्यानेन च
प्रतिबोधितं शिष्यं अज्ञानसंशयविपर्ययापोहेन उपदिष्टार्थे मतिनैश्च-
ल्याय पुनः पृच्छेदाचार्य इति आचार्यकृत्यमाह—

एवं श्रुतिस्मृतिभिः गृहीतपरमात्मलक्षणं शिष्यं
संसारसागरादुत्तितीर्षुं पृच्छेत् कस्त्वमसि सोम्येति ॥९॥

एवं श्रुतिस्मृतिभिरिति । तथाच शिष्यप्रतिपत्तिपरीक्षणार्था
श्रुतिर्भवति—'यदि मन्यसे सुवेदेति दभमेवापि नूनं त्वं वेत्थ

ब्रह्मणो रूपम्' । इत्याद्या हे सोम्य प्रियदर्शन, कस्त्वं किमात्मक इति ॥ ९ ॥

स यदि ब्रूयात्—ब्राह्मणपुत्रः अदोन्वयः ब्रह्मचार्या-
सम्—गृहस्थो वा, इदानीमस्मि परमहंसपरित्राट् संसार-
सागरात् जन्ममृत्युमहाग्राहात् उत्तितीर्षुरिति ॥ १० ॥

इति गुरुणापृष्टः यदि शिष्योऽप्रतिपत्त्यादिदोषप्रतिबन्धवशात्
ब्रूयात् ब्राह्मणपुत्र इत्यादि तदा आचार्यो ब्रूयादिति संबन्धः ।
असावन्वयो वंशो यस्य सोऽहं अदोन्वयः । अमुकदीक्षितवंश्योऽह-
मित्यर्थः । महाग्राहो नक्रः तिमिज्जिलो वा ॥ १० ॥

अहो अयमद्यापि देहाभिमानप्रतिबद्धज्ञानोदय इति तं त्याज्य-
त्याचार्यः—

आचार्यो ब्रूयात् इहैव तव सोम्य मृतस्य शरीरं
वयोभिरद्यते मृद्भावं वापद्यते तत्र कथं संसारादुद्धर्तु-
मिच्छसीति । नहि नद्याः अवरे कूले भस्मीभूतो नद्याः
पारं तरिष्यसीति ॥ ११ ॥

इहैव तवेत्यादिना । वयोभिः पक्षिभिः । गृध्रादिभिरित्यर्थः ॥ ११ ॥

एवं स्थूलदेहाभिमाने त्याजिते ततो विविक्तमात्मानं मन्यमानः
सन्—स यदि शिष्यो ब्रूयादन्योऽहं शरीरात् इत्यादि तदा आचार्यो
ब्रूयादित्युत्तरेणान्वयः । कथं शरीरादन्यत्वमवगतमित्यत आह—

स यदि ब्रूयात् अन्योऽहं शरीरात् । शरीरं तु जायते
प्रियते वयोभिरद्यते शस्त्राभ्यादिभिश्च विनाश्यते व्या-

ध्यादिभिश्च प्रयुज्यते । तस्मिन् अहं स्वकृतधर्माधर्मवशात् पक्षी नीडमिव प्रविष्टः पुनःपुनः शरीरविनाशे धर्माधर्मवशात् शरीरान्तरं यास्यामि पूर्वनीडविनाशे पक्षीव नीडान्तरम्, एवमेवाहमनादौ संसारे देवमनुष्यतिर्यङ्गिरयस्थानेषु स्वकर्मवशादुपात्तमुपात्तं शरीरं त्यजन् नवं नवं च अन्यदुपाददानो जन्ममरणप्रबन्धचक्रे घटीयन्नवत् स्वकर्मणा भ्राम्यमाणः क्रमेणेदं शरीरमासाद्य संसारचक्रभ्रमणात् अस्मान्निर्विण्णो भगवन्तमुपसन्नोऽस्मि संसारचक्रभ्रमणप्रशमाय । तस्मान्नित्य एवाहं शरीरादन्यः शरीराणि आगच्छन्त्यपगच्छन्ति च वासांसीव पुरुषस्येति १२

शरीरं तु जायते इत्यादिना । शरीरावस्थाद्रष्टृत्वादृश्याद्विकारिणोऽहं द्रष्टा अविकार्यन्य इत्यर्थः । कथं तर्हि देहादन्यस्य तव देहाभिमानपूर्वकत्वं इति चेत्, अविद्याप्रयुक्तकामप्रवर्तितधर्माधर्मवशादित्याह—तस्मिन्नहमिति । स्वकृतविशेषणेन अहंकारपूर्वकत्वद्योतनादहंकारस्य चाविद्याविना केवले आत्मन्यसंभवात् अविद्याप्रयुक्ताभिमानमूलत्वं धर्माधर्मयोरिति भावः । यद्येवं जानासि मा तर्हि कर्म कार्षीः इति चेत् पूर्वकृतकर्मवासनावशतया उत्तरोत्तरकर्मप्रवृत्तेः न शक्नोम्यहं निरोद्धुं इत्यभिप्रेत्याह—अनादाविति । ह्रियमाणकालनद्याः कचित्तरति कचिन्नेत्यादिन्यायेनाह—क्रमेणेदं शरीरमासाद्येति । बहूनां कर्मणां संचितत्वेऽपि क्रमेणैव फलारम्भो न युगपत् इत्येकमविकत्ववादः क्रमशब्देन निरस्यते । एतेन नित्यानित्यविवेक आत्मनो जातः इति फलितमाह—तस्मान्नित्य एवेति ॥ १२ ॥

आचार्यस्तु विवेकोक्तिं प्रशंसन्नभ्यनुजानाति—

आचार्यो ब्रूयात् साध्ववादीः सम्यक्पश्यसि कथं
मृषाऽवादीः ब्राह्मणपुत्रोऽदोन्वयो ब्रह्मचार्यासम्, गृहस्थो
वा इदानीमस्मि परमहंसपरिव्राडिति ॥ १३ ॥

साध्ववादीरिति । एवंविवेकवतस्तव वर्णाश्रमाद्यभिमानो भ्रान्ति-
मूल एवेत्याह—कथं मृषाऽवादीरिति ॥ १३ ॥

कथं भ्रान्तिर्मम इति पृष्टवन्तमाचार्यो ब्रूयात् इत्याह—

तं प्रति ब्रूयादाचार्यः स यदि ब्रूयात्—भगवन्, कथ-
महं मृषाऽवादिषमिति ॥ १४ ॥ यतस्त्वं भिन्नजात्य-
न्वयसंस्कारं शरीरं जात्यन्वयवर्जितस्यात्मनः प्रत्यभ्य-
ज्ञासीः ब्राह्मणपुत्रोऽदोन्वय इत्यादिना वाक्येनेति ॥ १५ ॥

तमिति । किं ब्रूयादित्येतदाह—यतस्त्वमित्यादिना । जाति-
जन्म । अन्वयः पित्रादिः । संस्कारो जातकर्मादिरुपनयनादिश्च । भिन्ना
अनात्मभूता जात्यन्वयसंस्कारा यस्य शरीरस्य तत्तथा । जात्यन्वयसं-
स्कारवर्जितस्यात्मनः कूटस्थस्य स्वरूपमिव अहमित्युल्लिखन् शरीरं
ज्ञातवान् ब्राह्मणपुत्र इत्यादिना वाक्येन । अतो विपर्ययदर्शित्वात्
मृषाऽवादीरित्यर्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥

उक्तमर्थं विशदीकर्तुं शिष्यप्रश्नमुत्थापयति—

स यदि पृच्छेत् कथं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं शरीरं,
कथं वा अहं जात्यन्वयसंस्कारवर्जित इति ॥ १६ ॥

स यदीति ॥ १६ ॥

गुरोरुत्तरदानाय प्रवृत्तिमाह—

आचार्यो ब्रूयात् शृणु सोम्य, यथेदं शरीरं त्वत्तो-
भिन्नं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं त्वं च जात्यन्वयसंस्कारव-
र्जितः इत्युक्त्वा तं स्मारयेत्—स्मर्तुमर्हसि सोम्य, परमा-
त्मानं सर्वात्मानं यथोक्तलक्षणं श्रावितोऽसि 'सदेव
सोम्येदम्' इत्यादिभिः श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च । लक्षणं
च तस्य श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च ॥ १७ ॥

आचार्य इति । वक्तव्यस्यार्थस्य अतिसूक्ष्मदृष्टिगम्यत्वात् साव-
धानो भवेत्याह—शृणु सोम्येति । यथेदमित्यादि वर्जित इत्यन्तम् ।
शिष्योक्त्यनुवादवाक्यमुक्त्वा तं शिष्यं पूर्वोक्तं परमात्मलक्षणं स्मार-
येदिति योजना । यस्मात् 'सदेव' इत्यादि श्रुतिभिस्तदर्थानुकूलाभिः
स्मृतिभिश्च यथोक्तलक्षणं परमात्मानं सर्वात्मानं श्रावितोऽसि, तस्मा-
त्स्मर्तुमर्हसि सोम्येति योजनीयो ग्रन्थः । 'य आत्माऽपहतपाप्मा'
इत्यादिभिः श्रुतिभिः, 'न जायते' इत्यादिस्मृतिभिश्च । पूर्वोक्तं
ब्रह्मोपलक्षणं च तस्यात्मनः स्मर्तुमर्हसीत्यन्वयः ॥ १७ ॥

एवमुक्तं स्वरूपं स्मारयित्वा शरीरस्य भिन्नजात्यन्वयसंस्कारत्व-
ज्ञापनाय तदुत्पत्तिप्रकारमुपदिशेदित्याह—

लब्धपरमात्मलक्षणस्मृतये ब्रूयात्—योऽसावाकाश-
नामा नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतः अशरीरः अस्थूलादि-
लक्षणः अपहतपाप्मादिलक्षणश्च सर्वैः संसारधर्मैः अना-
गन्धितः 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म', 'य आत्मा सर्वान्तरः',
'अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतः श्रोता अमतो मन्ता अविज्ञातो
विज्ञाता नित्यविज्ञानस्वरूपः अनन्तरः अबाह्यः विज्ञान-

घन एव परिपूर्णः आकाशवत् अनन्तशक्तिः आत्मा सर्वस्य अशनायादिवर्जितः आविर्भावतिरोभाववर्जितश्च स्वात्मविलक्षणयोः नामरूपयोः जगद्बीजभूतयोः स्वात्मस्थयोः तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीययोः स्वयंवेद्ययोः सद्भावमात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वाद्वयाकर्ता अव्याकृतयोः १८

लब्धपरमात्मेति । लब्धा परमात्मलक्षणविषया स्मृतिरनुसंधानं येन तस्मै शिष्याय ब्रूयादित्यर्थः । उपलक्षणत्वेन उक्तवाक्यार्थमेव प्रकटयन् आत्मनः सकाशात् संघातोत्पत्तिप्रकारमाह—योऽसावित्यादिना । यः शाखान्तरे प्रकरणान्तरे च आत्मादिशब्दैः प्रसिद्धोऽसौ 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा' इत्यत्र छान्दोग्ये निर्दिष्टः आकाशनामा स्वात्मविलक्षणयोः नामरूपयोः व्याकर्ता स सर्वस्य आत्मेत्यन्वयः । आकाशनामेत्युक्ते भूताकाशशङ्का स्यात् तां 'आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्' इति न्यायेन परिहरति—नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूत इति । भूताकाशस्य नामरूपान्तःपातित्वात् तयोराधारभूत आत्मा आधेय आकाशादेरन्य इत्यर्थः । असङ्गादिमिराकाशसाम्यात्परमात्मापि आकाशशब्देन श्रुतिषु कचिन्निर्दिश्यते गौण्या वृत्त्येति द्रष्टव्यम् । अतएवाशरीरो मूर्तिवर्जितः । अशरीरपदमनिन्द्रियत्वादेरप्युपलक्षणं इत्यभिप्रेत्य विशिनष्टि—अस्थूलादिलक्षण इति । अथवा अशरीरः शरीरादिसंघातरहितः इत्यत्र प्रमाणं सूचयति—अस्थूलादिलक्षण इति । यतः शरीरेन्द्रियमनःप्राणादिरहितः अतएव अपहतपाप्मादिलक्षणः । अभिमन्यमानस्याभावे अभिमानाभावादित्यर्थः । चशब्देन स्वतो विकारराहित्यं समुच्चीयते । सर्वैर्विशेषणैः सिद्धमर्थमाह—सर्वैरिति । अनागन्धितः असंश्लिष्ट

इत्यर्थः । ननु एवं परमात्मनः अशरीरादिलक्षणत्वेऽपि जीवः शरी-
रादिलक्षण एव स्यात् इत्याशङ्क्य तस्य तेनानन्यत्वश्रवणान्मैवमित्य-
भिप्रेत्याह—यत्साक्षादित्यादिना । विज्ञातेत्युक्ते प्राप्तं विज्ञानक-
र्तृत्वं वारयति—नित्यविज्ञानस्वरूप इति । तत्र प्रमाणमाह—
अनन्तर इत्यादिना । आकाशवत्परिपूर्ण इत्यन्वयः । पूर्ण इति
निष्ठाप्रत्ययो न कर्मणि किंतु कर्तरि परिच्छेदाभावद्योतीत्याकाशदृ-
ष्टान्तः । कथं एवंलक्षणस्य द्रष्टृत्वादिकमुक्तं इत्यत आह—अनन्त-
शक्तिरिति । ‘इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते’ इति श्रुतेः अनन्ता
अनवच्छिन्ना दुर्लक्ष्या मायावस्थारूपाः शक्तय उपाधयो यस्य सोऽन-
न्तशक्तिर्मायाकार्यान्तःकरणेन्द्रियोपाधिभिर्द्रष्टृत्वादिव्यपदेशभाभवति
इत्यर्थः । सर्वस्य स्थावरजंगमस्य प्रपञ्चस्यात्मा स्वरूपमित्यर्थः । तस्य
नित्यमसंसारित्वं स्वाभाविकमाह—अशनायादीति । आविर्भावति-
रोभावसाक्षित्वादेव तद्विवर्जित इत्यर्थः । एवं आत्मस्वभावमुक्त्वा
नामरूपात्मकानात्मस्वभावं प्रपञ्चयति—स्वात्मविलक्षणयोरित्या-
दिना । अचेतनयोरित्यर्थः । जगद्बीजभूतयोः इत्युपादानत्वमुच्यते ।
कथं तर्हि आत्मोपादानत्वश्रुतिरित्यत आह—स्वात्मस्थयोरिति ।
उपादानाधारतामात्रेण कथमुपादानत्वसिद्धिः इत्यत आह—सद्भाव-
मात्रेणेति । सद्भावो नाम सत्त्वम् । आत्मसत्तामात्रेणैव आत्मनि
स्थितयोः न पृथक्सतोः आत्मनिष्ठयोरित्यर्थः । तथाच स्वात्मैकतां
गतयोर्निरूपयोः व्याकर्ता स्वात्मन एव व्याकर्ता इत्युपादानत्वसि-
द्धिरात्मन इत्यभिप्रायः । कुत एवं चिद्रूपस्यात्मनः अचिद्रूपेण स्वात्म-
व्याकरणम् इत्यत आह—अचिन्त्यशक्तित्वादिति । अव्याकृतयोः
अनमिव्यक्तयोरित्यर्थः । अनमिव्यक्ततया स्थितं हि व्यक्तीक्रियते
न प्रागसत् अतिप्रसङ्गादिति भावः ॥ १८ ॥

उक्तलक्षणयोर्नामरूपयोः यदाऽसौ निष्पादयिता तदा किमात्मके
ते प्रथमं निष्पाद्येते इति तदाह—

ते नामरूपे अव्याकृते सती व्याक्रियमाणे तस्मादे-
तस्मादात्मन आकाशनामाकृती संवृत्ते । तच्चाकाशाख्यं
भूतमनेन प्रकारेण परमात्मनः संभूतं प्रसन्नादिव सलि-
लान्मलमिव फेनम् । न सलिलं न च ललिलादत्यन्त-
भिन्नं फेनम् । सलिलव्यतिरेकेणादर्शनात् । सलिलं तु
स्वच्छं अन्यत्फेनान्मलरूपात् । एवं परमात्मा नामरूपा-
भ्यामन्यः फेनस्थानीयाभ्यां शुद्धः प्रसन्नः तद्विलक्षणः ते
नामरूपे अव्याकृते सती व्याक्रियमाणे फेनस्थानीये
आकाशनामाकृती संवृत्ते ॥ १९ ॥

ते नामरूपे इत्यादिना । तस्मात् अपहृतपाप्मत्वादिलक्षणात्
एतस्मादचिन्त्यशक्तेः सर्वज्ञात् आकाश इति नामवाचकः आकृति-
र्वाच्याकार इत्येवमाकारे संवृत्ते एवं व्यवहारयोग्ये अभूतामित्यर्थः ।
वाच्यवाचकाकारेण सदात्मकं ब्रह्मैव मायावशात् अभिव्यक्तमाकाशादि-
शब्दार्थात्मकमिति तात्पर्यार्थः । ननु कथंचिदात्मनः अचिदात्मका-
काशात्मना निष्पत्तिरिति शङ्कां दृष्टान्तेन प्रत्याचष्टे—तच्चाकाशाख्य-
मित्यादिना । दृष्टान्तं विवृण्वन् आत्मनः परिणामित्वशङ्कां वारय-
ति—न सलिलमित्यादिना । सलिलव्यतिरेकेण स्वरूपतः पृथग-
नुपलम्भादित्यर्थः । फेनस्य सलिलाद्भेदाभावे सलिलस्यापि न ततो
भेद इत्यत आह—सलिलं त्विति । अतो न सलिलमेव फेनं नापि
ततो भिन्नं किंतु अनिर्वचनीयमित्यर्थः । तथाच श्रुतिः ‘वाचारम्भणं

विकारो नामधेयम्' इति दार्ष्टान्तिकमाह—एवं परमात्मेति ।
निरूपितामाकाशोत्पत्तिं निगमयति—ते नामरूपे इति ॥ १९ ॥

इदानीं ततो वाय्वाद्युत्पत्तिं प्रतिपादयति—

ततोऽपि स्थूलभावमापद्यमाने नामरूपे व्याक्रियमाणे
वायुभावमापद्येते ततोऽप्यग्निभावं अग्नेरच्चावं ततः
पृथ्वीभावं इत्येवंक्रमेण पूर्वपूर्वानुप्रवेशेन पञ्चमहाभूतानि
पृथिव्यन्तान्युत्पन्नानि । ततः पञ्चमहाभूतगुणविशिष्टा
पृथ्वी । पृथ्व्याश्च पञ्चात्मक्यो ग्रीहियवाद्या ओषधयो
जायन्ते ताभ्यो भक्षिताभ्यो लोहितं च शुक्रं च स्त्रीपुं-
सशरीरसंबन्धि जायते । तदुभयमृतुकाले अविद्याप्रयुक्त-
कामखजनिर्मथनोद्भूतं मन्त्रसंस्कृतं गर्भाशये निषिच्यते ।
तत्स्वयोनिरसानुप्रवेशेन विवर्धमानं गर्भिभूतं नवमे दशमे
वा मासि संजायते ॥ २० ॥

ततोऽपीत्यादिना । आकाशात्मना स्थिते नामरूपे तदनुगतेन
आत्मना व्याक्रियमाणे ततोऽपि आकाशादपि स्थूलभावमापद्यमाने
सती वायुभावमापद्येते इति योजना । स्थूलभावः स्पर्शगुणेनोपचयः ।
ये नामरूपे आकाशात्मतां प्राप्ते ते एव व्याक्रियमाणे वायुभावमाप-
द्येते इति वदन् विकारस्य विकारान्तरोपादानत्वं वारयति । एवमुच-
रन्नापि द्रष्टव्यम् । तदेवं भूतोत्पत्तिमुक्त्वा तेभ्यः संघातस्य स्थूलस्यो-
त्पत्तिप्रकारमाह—पृथिव्याश्चेति । पञ्चात्मक्य इति । पञ्चीकृतप-
ञ्चभूतनिर्वर्तिता इत्यर्थः । तदुभयं स्त्रियाः लोहितं पुंसः शुक्रं चेत्य-
र्थः । काम एव खजो विलोडको मन्था तेन निर्मथनोद्भूतमित्यर्थः ।

‘गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति’ इत्यादि गर्भाधानमन्त्रैः
संस्कृतमित्यर्थः ॥ २० ॥

एवं शरीरोत्पत्तिमुपोद्धाततयोपदिश्य तस्य भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं
पृष्टं प्रतिपादयति—

तज्जातं लब्धनामाकृतिकं जातकर्मादिभिः मन्त्रसंस्कृतं
पुनः उपनयनसंस्कारयोगेन ब्रह्मचारिसंज्ञं भवति । तदेव
शरीरं पत्नीयोगसंस्कारयोगेन गृहस्थसंज्ञं भवति । तदेव
वनस्थसंस्कारेण तापससंज्ञं भवति । तदेव क्रियाविनिवृ-
त्तिनिमित्तसंस्कारेण परिब्राह्मसंज्ञं भवति । इत्येवं त्वत्तो
भिन्नं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं शरीरम् ॥ २१ ॥

तज्जातमित्यादिना । जातमित्यस्य व्याख्या—लब्धनामाकृ-
तिकमिति । भूतोपादानकत्वेन पित्रादिनिमित्तकत्वेन च भिन्नजात्य-
न्वयौ शरीरस्योक्तौ, इदानीं संस्कारमाह—जातकर्मादिभिरि-
ति ॥ २१ ॥

एवं स्थूलशरीराभिमानात् शिष्यं व्युत्थाप्य सूक्ष्मशरीराभिमान-
मपि तस्य त्याजयन् तस्यापि भौतिकत्वमाह—

मनश्चेन्द्रियाणि च नामरूपात्मकान्येव ‘अन्नमयं हि
सोम्य मनः’ इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ २२ ॥

मनश्चेत्यादिना । नामरूपात्मकान्येव भौतिकान्येवेत्यर्थः ।
तत्र प्रमाणमाह—अन्नमयमिति । अतो मन आदिसूक्ष्मसंघातोऽपि
नात्मा भौतिकत्वात् स्थूलवदित्यर्थः ॥ २२ ॥

कथं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारं शरीरं इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरमभिधाय
कथं चाहं जात्यन्वयसंस्कारवर्जित इति शिष्योक्तिमनूद्य उत्तरमाह—

कथं चाहं भिन्नजात्यन्वयसंस्कारवर्जित इत्येतच्छृणु ।
योऽसौ नामरूपयोर्व्याकर्ता नामरूपधर्मविलक्षणः स
एव नामरूपे व्याकुर्वन् सृष्ट्वेदं शरीरं स्वयं संस्कारधर्म-
वर्जितो नामरूपे इह प्रविष्टः अन्यैरदृष्टः स्वयं पश्यन्
तथाऽश्रुतः शृण्वन्—अमतो मन्वानो—अविज्ञातो विजा-
नन् ‘सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽ
भिवदन् यदास्ते’ इति । अस्मिन्नर्थे श्रुतयः सहस्रशः
‘तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्’, ‘अन्तः प्रविष्टः शास्ता
जनानाम्’, ‘स एष इह प्रविष्टः’, ‘एष त आत्मा’, ‘स एत-
मेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत’, ‘एष सर्वेषु
भूतेषु गूढोत्मा’, ‘सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो
देवताः’ इत्याद्याः ॥ २३ ॥

कथं चेत्यादिना । यस्तु नामरूपविलक्षणः पूर्वोक्तविलक्षणो
नामरूपात्मकस्य सर्वस्य स्रष्टा जात्यन्वयसंस्कारवर्जितः स एवाविकृतः
सृष्टेषु कार्यकारणसंघातेषु प्रविष्टो जीवात्मेति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात्
न तस्य जात्यन्वयसंस्कारसंबन्ध इति प्रतिपादयन्नाह—योऽसावि-
त्यादिना । ननु परमात्मैव चेदिह प्रविष्टः पक्षीव नीडं तर्हि कथं
स सर्वैर्नोपलभ्यत इति तत्राह—अन्यैरदृष्ट इति । ‘अदृष्टो द्रष्टा’
इत्यादिश्रुतिरिहार्थतो दर्शिता । सर्वस्य यो विज्ञाता सर्वावभासकत्वा-
न्नान्यैरवभास्यते सोऽस्त्येवेह प्रविष्ट इति भावः । अत्र मन्त्रमुदाहरति—
सर्वाणीति । रूपाणि शरीराणि विचित्य विरचय्य धीरो धीमान्सर्वज्ञः
तत्र प्रविश्य नामानि कृत्वा देवोऽहं मनुष्योऽहमित्यभिवादनादिव्या-
पारं कुर्वन् यदास्ते तं ‘वेदाहमेतं’ इति पूर्वार्धेनान्वयः । अस्मिन्नर्थे

इति । सृष्टुरेव जीवरूपेण प्रवेश इत्यत्रेत्यर्थः । ब्राह्मणवाक्यान्यत्रो-
दाहरति—तत्सृष्ट्वेत्यादिना । ‘एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः’ इति
वाक्यशेषः । स ईक्षणपूर्वकं जगत्सृष्ट्वा एतमेव प्रसिद्धं सीमानं शिरः-
कपालसंधिं विदार्य भित्त्वा एतया ब्रह्मरन्ध्रवाच्यया द्वारा छिद्रेण
प्रापद्यत देहमध्ये प्रविष्ट इत्यर्थः । ‘अन्तः प्रविष्टं कर्तारमेतं’, ‘भर्ता
सन् भ्रियमाणो विभर्ति’, ‘एको देवो बहुधा निविष्टः’, ‘इन्द्रं मित्रं
वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं स द्विषा बहुधा
वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः’ इत्यादिमन्त्रब्राह्मणवादानप्यत्र
सूचयन्ति इत्याद्या श्रुतय इति ॥ २३ ॥

परमात्मैव क्षेत्रज्ञ इति श्रुत्युक्तेऽर्थे स्मृतीरप्युदाहरति—

स्मृतयोऽपि ‘आत्मैव देवताः सर्वाः’, ‘नवद्वारे पुरे
देही’, ‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि’, ‘समः सर्वेषु भूतेषु’,
‘उपद्रष्टानुमन्ता च’, ‘उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः’, ‘अशरीरं
शरीरेषु’ इत्याद्याः । तस्मात् जात्यन्वयसंस्कारवर्जितस्त्व-
मिति सिद्धम् ॥ २४ ॥

स्मृतयोऽपीति । शरीरे वर्तमानस्यापि शरीरधर्माऽसंस्पर्शित्वे
श्रुतिं प्रमाणयति—अशरीरं शरीरेष्विति । ‘स पर्यगाच्छुक्रम-
कायमन्नमस्त्राविरे शुद्धमपापविद्धम्’ इत्यादिश्रुतय आदिशब्दार्थः ।
यस्मादेवं श्रुतिस्मृतिन्यायैरात्मा देहादेर्भिन्नः असङ्गः तदसंस्पृष्टश्च
तस्मादिति । प्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ २४ ॥

एवं परमात्माभेदोपदेशेन जीवस्य जात्यन्वयसंस्कारराहित्यमुक्त-
मवधार्य तत्र स्वानुभवविरोधं शङ्कते—

स यदि ब्रूयात्—अन्य एवाहमज्ञः सुखी दुःखी बद्ध

संसारी-अन्योऽसौ मद्विलक्षणः असंसारी देवः तमहं
वत्युपहारनमस्कारादिभिः वर्णाश्रमकर्मभिश्चाराध्य सं-
सारसागरादुत्तितीर्षुरस्मि कथमहं स एवेति ॥ २५ ॥

स यदीति । अज्ञत्वादेः स्वात्मन्यनुभवसिद्धत्वात् तद्विलक्षणे श्वरा-
त्मत्वं श्रुत्यादिभिरुक्तमपि न संभावयामि किंतु भिन्नमेव तमहं मन्ये
उत्कृष्टमीश्वरं, निकृष्टसंसार्यात्मना पश्यतः प्रत्यवायापत्तेः । अतस्तं देवं
स्वकर्मणा भक्त्या च आराध्य तत्प्रसादान्मुक्तसंसारो भविष्यामीति
मे मतिरिति शिष्याभिप्राय इत्यर्थः ॥ २५ ॥

मैवं वादीः भेददर्शन एव प्रत्यवायश्रवणात् इति गुरुः परिह-
रति—

आचार्यो ब्रूयात्—‘नैवं सोम्य, प्रतिपत्तुमर्हसि प्रति-
षिद्धत्वाद्भेदप्रतिपत्तेः’ । कथं प्रतिषिद्धा भेदप्रतिपत्तिरि-
त्यत आह—‘अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद’, ‘ब्रह्म
तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद’, ‘मृत्योः स मृत्युमा-
प्नोति य इह नानेव पश्यति’ इत्येवमाद्या ॥ २६ ॥

नैवं सोम्येति संग्रहवाक्यं आक्षेपसमाधानाभ्यां विवृणोति—
कथमित्यादिना । प्रत्यक्षसिद्धस्य भेदस्य कथं तद्विरुद्धपमाणान्तरेण
प्रतिषेध इत्याक्षेपार्थः । असंसारीश्वरस्य अप्रत्यक्षत्वात्तद्भेदस्य स्वात्मनि
प्रत्यक्षत्वाभावात् सुखित्वाद्यनुभवस्य भ्रान्त्याप्युपपत्तेः तद्वलात् भेदा-
ध्यवसायायोगात् अन्यथा सिद्धार्थश्रुतिनिषिद्धो भेदो न मानमर्हतीति
समाधानाभिप्रायः । तथाहि अन्योऽसौ परमेश्वरो मद्विलक्षणः अन्योऽहं
तद्विलक्षणः संसार्येवेति योऽन्यां देवतामुपास्ते तात्पर्येण पश्यति

न स वेद तत्त्वमिति भेददर्शनस्य अविद्यामूलत्वमुक्त्वा 'यथा पशुरेवं स देवानाम्' इति देवपशुत्वप्राप्तिं तस्य दर्शयन्ति । नहि पराधीनात्मत्वतोऽन्यदैन्यं कष्टं वा वर्तत इति । तथा योऽन्यत्र अन्यदेवेदमित्यात्मनः पृथगेव ब्रह्म ब्राह्मणजातिं वेद तं तदेव ब्रह्म ब्राह्मणत्वजातिः परादात् पराकुर्यात् तत्त्वविमुखं कुर्यात् आत्मरूपं मामऽनात्मतया पश्यतीति द्वेष्टेव नतु हितमावहतीत्यर्थः । एवं 'क्षत्रं तं परादात्' इत्यादि 'सर्वं तं परादात्' इत्यन्तमुदाहरणं द्रष्टव्यम् । इहात्मनि यो नानेव पश्यति । इवशब्दो नानात्वदर्शनस्य आभासत्व-द्योतनार्थः । स मृत्योर्मृत्युं संसारात्संसारं अनर्थपरम्परामेवाप्नोतीत्यर्थः । इत्येवमाद्या इति । 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'उदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति' इत्याद्याः श्रुतयो गृह्यन्ते ॥ २६ ॥

उदाहृताः श्रुतयो न भेददर्शनमात्रं निषेधन्ति किंतु भेददर्शिनः प्रत्यवायमपि अनर्थप्राप्तिरूपमावेदयन्तीत्याह—

एता एव श्रुतयो भेदप्रतिपत्तेः संसारगमनं दर्शय-
न्ति ॥ २७ ॥

एता एवेति ॥ २७ ॥

भेददृष्टिं निन्दित्वा अभेददृष्टिं फलवत्तया प्रशंसन् तस्या एव उपादेयतां दर्शयति—

अभेदप्रतिपत्तेश्च मोक्षं दर्शयन्ति सहस्रशः 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति परमात्मभावं विधाय 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इत्युक्त्वा 'तस्य तावदेव चिरम्' इति मोक्षं दर्शयन्त्यभेदविज्ञानादेव सत्याभिसंधस्यातस्करस्येव दाहाद्य-भाववत् संसाराभावं दर्शयन्ति दृष्टान्तेन—भेददर्शनादस-

त्याभिसंधस्य संसारगमनं दर्शयन्ति तस्करस्येव दाहादि-
दृष्टान्तेन ॥ २८ ॥

अभेदप्रतिपत्तेश्चेति । तत्र श्रुत्येकदेशमुदाहृत्य व्याचष्टे—स
आत्मेत्यादिना । तत्रैव अन्वयव्यतिरेकोपपत्तिपरश्रुत्यर्थमुदाहरन् उक्त-
मर्थं द्रढयति—अभेदविज्ञानादेवेति । ‘पुरुषं सौम्योत हस्तगृहीत-
मानयन्ति’ इति खण्डे इममर्थं दर्शयतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

सुषुप्तौ परमात्मन्यभेदसंपत्तावपि तथा ज्ञानाभावापराधादेव
पुनरपि व्याघ्रादिभावेनोत्थितानां संसाराविच्छेदं दर्शयति श्रुतिः ।
‘परमात्माभेदेनात्मज्ञानमेव मोक्षहेतुः’ इति सूचयतीत्यभिप्रेत्याह—

‘त इह व्याघ्रो वा’ इत्यादिना च अभेददर्शनात् ‘स
स्वराट् भवति’ इत्युक्त्वा तद्विपरीतेन भेददर्शनेन संसा-
रगमनं दर्शयन्ति—‘अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यै राजान-
स्तेऽक्षैर्यलोका भवन्ति’ इति प्रतिशाखम् । तस्मात् मृषै-
वैवमवादीः ब्राह्मणपुत्रोऽदोन्वयः संसारी परमात्मविल-
क्षण इति ॥ २९ ॥

त इह व्याघ्रो वेत्यादिना चेति । अत्रैव उदाहरणान्तरमाह—अ-
भेददर्शनात् स स्वराडित्यादिना । ‘यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये
ऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति’
‘यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति’ इत्याद्याः
श्रुतयोऽप्युदाहर्तव्या इत्याह—इति प्रतिशाखमिति । यस्मादेवं
भेददर्शननिन्दया अभेददर्शनस्तुत्या च जीवस्य ब्रह्माभेदोऽवधारितः
अतो ब्राह्मणत्वाद्यभिमानस्य आत्मनि मिथ्यादृष्टित्वं सिद्धं इति प्रकृत-
मुपसंहरति—तस्मादिति ॥ २९ ॥

यदुक्तं तमहं ब्रह्मपुपहारनमस्कारादिभिर्वर्णाश्रमकर्मभिराराधयेति सापि दृष्टिः भेददर्शनापवादादेव न सम्यग्दृष्टिरित्याह—

तस्मात्प्रतिषिद्धत्वाद्भेददर्शनस्य भेदविषयत्वाच्च कर्मोपादानस्य कर्मसाधनत्वाच्च यज्ञोपवीतादेः कर्मसाधनोपादानस्य परमात्माऽभेदप्रतिपत्त्या प्रतिषेधः कृतो वेदितव्यः । कर्मणां तत्साधनानां च यज्ञोपवीतादीनां परमात्माभेदप्रतिपत्तिविरुद्धत्वात् । संसारिणो हि कर्माणि विधीयन्ते तत्साधनानि च यज्ञोपवीतादीनि । न परमात्मनोऽभेददर्शिनः । भेददर्शनमात्रेण च ततोऽन्यत्वम् ॥३०॥

तस्मात्प्रतिषिद्धत्वादिति । भेदविषयत्वाच्च कर्मोपादानस्येति । क्रियाकारकफलभेदाश्रयमन्तरेण कर्मणः स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः । ‘यज्ञोपवीत्येवाधीयीत याजयेद्यजेत वा’ इति श्रुतेः यज्ञोपवीतधारणादेः कर्मसाधनत्वावगमात् साध्यकर्माभावे तत्साधनपरिग्रहो निरर्थक इत्यभिप्रेत्याह—कर्मसाधनत्वाच्च यज्ञोपवीतादेरिति । कर्मसाधनयोरुपादानम् कर्मसाधनोपादानं तस्येति विग्रहः । कथं अभेदप्रतिपत्तिमात्रेण कर्मतत्साधनप्रतिषेधसिद्धिः । कर्मणोऽपि अभेदप्रतिपत्तिसंभवात् इत्याशङ्क्याह—कर्मणामिति । ब्रह्माहं कर्ता चाहमिति विरुद्धप्रतिपत्त्योरेकस्मिन्पुरुषे समुच्चयायोगादित्यर्थः । तर्हि अधिकार्यभावात् निरालम्बनं कर्मकाण्डमप्रमाणं स्यादिति नेत्याह—संसारिणो हीति । संसारिणो जात्याद्यभिमानवत इत्यर्थः । न परमात्मनोऽभेददर्शिन इत्यर्थः । संसारिणोऽपि परमात्मानन्यत्वात्कथं तस्य कर्मविधिः इत्यत आह—भेददर्शनमात्रेण च ततोऽन्यत्वमिति । न वस्तुवृत्त्या भेदापेक्षा कर्मविधेः इति भावः ॥ ३० ॥

यदुक्तं ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपत्त्या कर्मणां तत्साधनानां च श्रुत्या प्रतिषेधेः कृत इति तद्व्यतिरेकमुखेन साधयति—

यदि कर्माणि कर्तव्यानि न निवर्तयिषितानि कर्म-
साधनासंबन्धिनः कर्मनिमित्तजात्याश्रमाद्यसंबन्धिनश्च
परमात्मनश्च आत्मनैवाभेदप्रतिपत्तिं नावक्ष्यत् 'स आ-
त्मा तत्त्वमसि' इत्येवमादिभिर्निश्चितरूपैर्वाक्यैः, भेदप्र-
तिपत्तिनिन्दां च नाभ्यधास्यत् 'एष नित्यो महिमा-
ब्राह्मणस्य', 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन,
अत्र स्तेनोऽस्तेनः' इत्यादिना ॥ ३१ ॥

यदि कर्माणि इत्यादिना । परमात्मनश्च इति चकारादात्मनो
ब्रह्मणैवाभेदप्रतिपत्तिमिति योज्यम् । एवमादिभिरिति । अहं
ब्रह्मासीत्यादिवाक्यं गृह्यते—निश्चितरूपैर्वाक्यैरिति । संवादिवि-
संवादिप्रमाणान्तरासिद्धविषयत्वे सति अनन्यशेषतया च स्वार्थैकपर-
त्वेन निर्णोतस्वभावैरित्यर्थः । भेदप्रतिपत्तिनिन्दामिति । 'मृत्योः
स मृत्युम्' इत्यादिभिर्वाक्यैरिति शेषः । ब्राह्मणस्य ब्रह्मविदः स हि
मुख्यो ब्राह्मणः 'स ब्राह्मणः' इति श्रुतेः इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

उदाहृतवाक्यानां क्रमेण तात्पर्यमाह—

कर्मासंबन्धिस्वरूपत्वं कर्मनिमित्तवर्णाद्यसंबन्धरूपतां
च नाभ्यधास्यत् कर्माणि च कर्मसाधनानि च यज्ञो-
पवीतादीनि यद्यपरितित्याजयिषितानि तस्मात्ससाधनं
कर्म परित्यक्तव्यं मुमुक्षुणा परमात्माऽभेददर्शनविरोधात्
आत्मा च परएवेति प्रतिपत्तव्यो यथाश्रुत्युक्तलक्षणः ३२

कर्मासंबन्धीत्यादिना । यदि कर्मादीनि न परितित्याजयिषितानि तर्हि एवमुक्तं सर्वं नाभ्यधास्यदिति संबन्धः । अभिधत्ते तु श्रुतिः तं तमर्थम्, अतो ब्रह्मात्मज्ञानमिच्छता कर्मादीनि परित्याज्यानीत्याह—तस्मादिति ॥ ३२ ॥

तदेवं आगमावष्टम्भेन निरूपितं ब्रह्मात्मैक्यं युक्त्वापि व्यवस्थापयितुं उत्तरो ग्रन्थः । तत्राक्षेप्ता शिष्यो जीवपरमात्मानौ वस्तुतो-मिन्नौ विरुद्धधर्मसंसर्गित्वात् शीतोष्णवत् इत्यनुमानेन प्रत्यवतिष्ठत इत्याह—

स यदि ब्रूयात् भगवन्, दह्यमाने छिद्यमाने वा देहे प्रत्यक्षा वेदना—अशनायादिनिमित्तं च प्रत्यक्षं दुःखं मम । परश्चायमात्मा, 'अयमात्माऽपहतपाप्मा विरजो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सर्वगन्धरसवर्जितः' श्रूयते सर्वश्रुतिषु स्मृतिषु । कथं तद्विलक्षणः अनेकसंसारधर्मसंयुक्तः परमात्मानमात्मत्वेन च मां संसारिणं परमात्मत्वेन अग्निमिव शीतत्वेन प्रतिपद्येयम् । संसारी च सन् सर्वाभ्युदयनिःश्रेयससाधने अधिकृतः अभ्युदयनिःश्रेयससाधनानि कर्माणि तत्साधनानि च यज्ञोपवीतादीनि कथं परित्यजेयमिति ॥ ३३ ॥

स यदीत्यादिना । एवं विरुद्धधर्मवत्त्वहेतुमुपपाद्य अनुमानमाह—कथं तद्विलक्षण इति । एवंसति भेदस्य तात्त्विकत्वेन कर्मतत्साधनपरित्यागात्मकस्य संन्यासस्य नास्त्यवसर इत्याह—संसारी चेति ॥ ३३ ॥

तत्रानुमाने तावद्धेतवसिद्धिं दर्शयितुं उपक्रमते—

तं प्रति ब्रूयात्—यदवोचो दह्यमाने छिद्यमाने वा देहे
प्रत्यक्षा वेदनोपलभ्यते ममेति तदसत् । कस्मात् । दह्यमाने
छिद्यमान इव वृक्षे उपलब्धुरूपलभ्यमाने कर्मणि शरीरे
दाहच्छेदवेदनाया उपलभ्यमानत्वात् दाहादिसमानाश्र-
यैव वेदना । यत्र हि दाहः छेदो वा क्रियते तत्रैव व्यपदि-
शति दाहादिवेदनां लोकः न वेदनां दाहाद्युपलब्धरीति ।
कथं । क्व ते वेदनेति पृष्टः शिरसि मे वेदना उरसि उदरे
इति वा यत्र दाहादिस्तत्रैव व्यपदिशति न तूपलब्धरी-
ति । यद्युपलब्धरि वेदना स्यात् वेदनानिमित्तं वा
दाहच्छेदादि वेदनाश्रयत्वेनो(नव्य)पदिशेद्दाहाद्याश्रय-
वत् ॥ ३४ ॥

तं प्रति ब्रूयादित्यादिना । जीवपरमात्मानाविति किं उपाधिभे-
दविशिष्टं वस्तु यथाप्रतिपत्ति निर्दिश्यते किंवा चैतन्यमात्राकारम् ।
आद्ये बाधव्यभिचारौ । आकाशभेदवदौपाधिकस्य भेदस्य अवास्तव-
त्वात्, भेदमात्रसाधने सिद्धसाधनत्वाच्च इत्यभिप्रेत्य द्वितीयेऽसिद्धि-
मुक्त्वा तामुपपादयति—तदसत्कस्मादित्यादिना । वृक्ष इव
दह्यमाने छिद्यमाने शरीरे दाहच्छेदनवेदनाया उपलभ्यमानत्वात् ।
दाहादिसमानाश्रयैव दाहच्छेदादिवेदनेति योजना । शरीरस्यैव तदुप-
लब्धत्वशङ्कां वारयितुं तद्विशिनष्टि—कर्मणीति । कर्मत्वं साधयति
—उपलब्धुरूपलभ्यमान इति । उक्तमर्थं लोकप्रसिद्ध्या द्रढयति—
यत्र हीति । तत्रैवानुभवमपि प्रश्नपूर्वकमभिनयति—कथमित्यादि-
ना । पुनस्तदेव व्यतिरेकमुखेनोपपादयति—यद्युपलब्धरीति ।

उपदिशेदित्यस्मात्पूर्वं उपलब्धारम् इत्यध्याहारः । यद्युपलब्धरि वेदना स्यात् तदा दाहाद्याश्रयदेहदेशवत् वेदनानिमित्तं दाहच्छेदादिजवेदनाश्रयत्वेनोपलब्धारमुपदिशेच्छेकः । नैवमुपदिशन्नुपलभ्यते । अतो दाहच्छेदादिसमानाश्रयैव वेदनेति योजना ॥ ३४ ॥

तत्रैव युक्त्यन्तरमाह—

स्वयं च नोपलभ्येत चक्षुर्गत रूपवत् । तस्मात् दाहच्छेदादिसमानाश्रयत्वेन उपलभ्यमानत्वाद्दाहादिवत् कर्मभूतैव वेदना । भावरूपत्वाच्च साश्रया तण्डुलपाकवत् । वेदनासमानाश्रय एव तत्संस्कारः । स्मृतिसमानकाल एवोपलभ्यमानत्वात् वेदनाविषयः । तन्निमित्तविषयश्च द्वेषोऽपि संस्कारसमानाश्रय एव । तथा चोक्तम् ‘रूपसंस्कारतुल्याऽधी रागद्वेषौ भयं च यत् ॥ गृह्यते धीश्रयं तस्माज्ज्ञाताशुद्धोऽभयः सदा’ ॥ ३५ ॥

स्वयं चेति । यथा चक्षुर्गतं रूपं न चक्षुषा गृह्यते तथाऽत्मगता वेदना आत्मना न गृह्येत कर्मकर्तृत्वविरोधादित्यर्थः । आत्मनो वेदनाश्रयत्वनिराकरणमुपसंहरति—तस्मादिति । ननु वेदना नाम दुःखं न तदचेतने देहे संभवति, सुखदुःखादिधर्माणां चेतनाश्रयत्वनियमात् । यदि पुनः चेतनोऽप्यात्मा न वेदनाश्रयः तदा शरीरमप्यचेतनं न तदाश्रयः इत्यनाश्रयैव वेदनाऽस्तु, बौद्धैरपि तथाऽभ्युपगमात् इत्यत आह—भावरूपत्वाच्चेति । भावरूपत्वं कार्यत्वम् । वेदना साश्रया कार्यत्वात् तण्डुलपाकादिवत् इत्यर्थः । हेतोरप्रयोजकतामाशङ्क्य विपक्षे बाधकमाह—वेदनासमानाश्रय इति । वेदनाया निराश्रयत्वे तन्नाशे संस्काराभावात्कालान्तरे स्मरणं न

स्यादित्यर्थः । यद्वा हेत्वसिद्धिं परिहरति—वेदनासमानाश्रय एव तत्संस्कार इति । वेदनाया अकार्यत्वे तत्संस्कारस्मृत्योरभावात्कालान्तरे पादे मे वेदनाऽभूत् इत्यादिव्यवहारो न स्यादित्यभिप्रायः । अथवा—साश्रया यदि वेदना तर्हि आत्माश्रयैव स्यात् आत्मन्येव तत्संस्कारस्मृत्यादेरुपलम्भात् इत्याशङ्क्याह—वेदनासमानाश्रय एव तत्संस्कार इति । यत्स्था वेदनोऽपलभ्यते तत्स्थ एव तज्जन्यसंस्कारादिः, वेदना तत्संस्कारस्मृतीनां एकाश्रयत्वनियमात्, वेदनायाश्च उपलब्धिकर्मनिष्ठत्वोपपादनात् नोपलब्ध्यात्मनि तत्संस्कारादीत्यर्थः । तदेवानुमानेन साधयति—स्मृतिसमानकाल एवेति । स्मृतेर्यः कालो जाग्रत्स्वप्नावस्थारूपः तत्रैव उपलभ्यमानत्वात् सुषुप्त्यादावनुपलभ्यमानत्वात् वेदनाविषयो वेदनासमानविषयः । समानाश्रय एव तत्संस्कारइत्यक्षरार्थः । तथाचयं प्रयोगः—वेदनादिरनात्माश्रयः अनात्मप्रत्ययकाल एव उपलब्धिगोचरत्वाद्देहकार्यादिवदिति । इतोऽप्यनात्माश्रय एव वेदनादिरित्याह—तन्निमित्तविषयश्चेति । तत्तस्या वेदनाया यन्निमित्तं दाहच्छेदादि तद्विषयो द्वेषोऽपि संस्कारतुल्याश्रयः अनात्माश्रय इत्यर्थः । अयमिह प्रघट्टिकाभिप्रायः—देहे छिद्यमाने दह्यमाने च अहं छिन्नो दग्ध इति च देहाभिन्नमात्मानं मन्यमानः संतप्यते जनः, तन्निमित्तकवेदना तत्संस्कारस्मृतिद्वेषांश्च देहाभिन्न एवात्मन्युपलभ्यते न देहाभिमानहीनावस्थायां देहश्चोपलभ्यमानत्वादुपलब्धिकर्मैव नोपलब्ध्याश्रय इति संघातस्यैव वेदनादिनासंहतस्य साक्षिण आत्मन इति नित्यशुद्ध एव आत्मेति । एवं निरूपितेऽर्थे वृद्धसंमतिमाह—तथाचोक्तं रूपेति । रूपं नीलपीतादिविषयः तस्य संस्कारः सूक्ष्मावस्था तदनुभवसंस्कारो वा स्मृतिहेतुः स रूपसंस्कारः तेन सह तुल्यः समान आधिः उपाधिः आश्रयो ययोः

रागद्वेषयोः तौ रूपसंस्कारतुल्या धीः यच्च भयं त्रासस्तदपि रूपसंस्कार-
तुल्याधीत्यर्थः । किमाश्रयत्वमेषामित्यत आह—गृह्यते धीश्रयमिति ।
गृह्यते तन्नयमेतदिति शेषः । संकल्पविचिकित्सादेरप्युपलक्षणमेतत् ।
यद्यस्मात् रूपादिसंस्कारः तज्जन्यरागादिसर्वं धीसंश्रितमेवोपलभ्यते
न तत्साक्षिसंश्रितं तत्तस्मात् ज्ञाता आत्मा सदा शुद्धो रागद्वेषरहितः
अभयश्च संसाररहित इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

युक्त्या संमत्या चोपपादितं वेदनादीनामपि अनात्मधर्मत्वं पुनः
प्रश्नपूर्वकं श्रुत्या प्रतिपादयंस्तदाश्रयविशेषं निर्धारयति—

किमाश्रयाः पुनः रूपादिसंस्कारादय इति । उच्यते ।
यत्र कामादयः । क पुनस्ते कामादयः ‘कामः संकल्पो
विचिकित्सा’ इत्यादिश्रुतेः बुद्धावेव । तत्रैव रूपादिसं-
स्कारादयोऽपि ‘कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदये’
इति श्रुतेः—‘कामा येऽस्य हृदि श्रिताः’, ‘तीर्णो हि
यदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य’, ‘असङ्गो ह्ययम्’, ‘तद्वा
अस्यैतदतिच्छन्दाः’ इत्यादिश्रुतिभ्यः, ‘अविकार्योऽयमु-
च्यते’, ‘अनादित्वान्निर्गुणत्वात्’ इत्यादि । इच्छाद्वेषादि
च क्षेत्रस्यैव विषयस्य धर्मो नात्मन इति स्मृतिभ्यश्च
कर्मस्थैवाशुद्धिः नात्मस्था इति ॥ ३६ ॥

किमाश्रया इत्यादिना । इत्यादिश्रुतेः ‘एतत्सर्वं मन एव’
इत्यवधारणात् मनोबुद्ध्योश्चान्तःकरणात्मनैकत्वाद्बुद्धावेव कामादयो न
आत्मनि इत्यवधारितमित्यर्थः । कामादेर्बुद्ध्याश्रयत्वेऽपि कथं रूपादि-
संस्कारसमानाश्रयत्वसिद्धिः इत्याशङ्क्य रूपादेरपि बुद्ध्याश्रयत्वे शु-

तिमाह—तत्रैवेत्यादिना । कामादेः अन्तःकरणनिष्ठत्वे वाक्यान्तरं पठति—कामायेऽस्येति । ‘तीर्णो हि तदा सर्वान्हृदयस्य’ इत्युक्तेः सनिदानानामेव तेषां हृदाश्रयत्वं गम्यते तस्मात् शोकनिमित्तरूपादिसंस्काराणामपि बुद्ध्याश्रयत्वं युक्तमेव, अन्यथा सर्वविशेषणानुपपत्तेरित्यर्थः । इदानीमात्मनो वेदनाकामद्वेषाद्यसंस्पृष्टत्वे श्रुतिस्मृती पठति—असङ्गो हीत्यादिना । अतिच्छन्दा इति छान्दसं रूपविशेषणत्वात् । अतिच्छन्दं छन्दः कामः अतिगतकामं असंस्पृष्टकामादिदोषं एतदात्मस्वरूपमित्यर्थः । निर्गुणत्वात् इत्यादिस्मृतिभ्यश्चेति संबन्धः । इदानीं सिंहावलोकनेन कामादेरनात्मधर्मत्वे श्रुत्युक्ते स्मृतिमाह—इच्छाद्वेषादीति । ‘इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ॥ एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥’ इत्यादिस्मृतिभ्यश्च इच्छादिः क्षेत्रस्यैव धर्मो न आत्मन इति योजना । क्षेत्रस्यानात्मत्वं द्योतयितुं विषयस्य इति विशेषणम् । श्रुतिस्मृतिसिद्धमर्थमुपसंहरति—कर्मस्थैवाशुद्धिर्नात्मस्थेति । इति सिद्धमिति शेषः ॥ ३६ ॥

परमप्रकृतमुपसंहरति—

अतो रूपादिसंस्काराद्यशुद्धिसंबन्धाभावात् न परस्मादात्मनो विलक्षणस्त्वमिति प्रत्यक्षादिविरोधाभावात् युक्तं पर एवात्माऽहमिति प्रतिपत्तुम्—‘तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि’, ‘एकधैवानुद्रष्टव्यम्’, ‘अहमेवाऽधस्तात्’, ‘आत्मैवाऽधस्तात्’, ‘सर्वमात्मानं पश्येत्’ ‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैव’, ‘इदं सर्वं यदयमात्मा’, ‘स एषोऽकलः’, ‘अनन्तरमवाह्यम्’, ‘सवाह्याभ्यन्तरो ह्यजः’, ‘ब्रह्मैवेदम्’, ‘एतया द्वारा प्रापद्यत’, ‘प्रज्ञानस्य नामधे-

यानि', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'तस्माद्वा', 'तत्सृष्ट्वा
तदेवानुप्राविशत्', 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्या-
पी', 'अशरीरं शरीरेषु', 'न जायते म्रियते', 'स्वप्नान्तं
जागरितान्तम्', 'सम आत्मेति विद्यात्', 'यस्तु सर्वाणि
भूतानि', 'तदेजति तन्नैजति', 'वेनस्तत्पश्यन्', 'तदेवा-
ग्निः', 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च', 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता
जनानाम्', 'सदेव सोम्य', 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वम-
सि' इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ ३७ ॥

अतो रूपादीति । रूपादिसंस्काराद्यशुद्धिसंबन्धाभावादेव प्रत्यक्षा-
दिविरोधाभावान्न परस्मादात्मनो विलक्षणस्त्वं इति हेतोः पर एवा-
त्माऽहमिति प्रतिपत्तुं युक्तमिति योजना । आत्माभेदेनैव ब्रह्मप्रतिपत्तव्य-
मित्युक्तेऽर्थे श्रुतिवाक्यान्युदाहरति—तदात्मानमेवावेदित्यादिना ।
आत्मानं प्रत्यञ्चमेवाहं ब्रह्मास्मीति अवेत् अवगतवान् तद्ब्रह्मेत्यर्थः ।
एकधैव एकस्वरूपेणैव नतु विषयत्वेन भेदेन वा अनुद्रष्टव्यं इत्या-
चार्योपदेशानन्तरं अनुसन्धेयम् । 'एतदप्रमयं ध्रुवम्' इति वाक्यशेषः ।
'स एवाऽधस्ता' दित्यादिना भूमानं परमात्मानं सर्वाधिष्ठानमुपक्रम्य
तस्य ताटस्थ्यशङ्कानिवृत्तये अहंकारात्मत्वमुपदिश्य पुनः अहमुपरा-
गकृतपरिच्छेदादिनिवृत्तये तत्साक्षिप्रत्यगेकरसतां तस्य निर्दिशति
छान्दोग्यश्रुतिरित्याह—अहमेवाधस्तादिति । शमादिसाधनसंपन्नः सन्
सर्वमात्मानं पश्येत् इति निर्दिष्टेऽर्थे हेतुमिव वचनान्तरमाह—
यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवेति । 'अभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिवाक्य-
शेषः । इदं सर्वं यद्भोक्तृभोग्यादिलक्षणं विश्वं तत्सर्वमयमात्मा न अ-
तोऽन्यद्वस्तुतोऽस्तीत्यर्थः । स एष इति । 'स एषोऽकलोऽमृतः' इति

प्रश्नोपनिषद्गतं वाक्यम् । स एष प्रत्यगात्मा कलाशब्दवाच्यप्राणाद्युपा-
धिभिर्वियुक्तः अमृतः अमृतं ब्रह्मैवेति तस्यार्थः । ‘तदेतद्ब्रह्म अपूर्वम-
नपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म’ इति बृहदारण्यवाक्यमुदाहरति—
अनन्तरमबाह्यमिति । मुण्डकवाक्यं च तत्समानार्थमाह—सबाह्ये-
ति । अमूर्तः पुरुष एव सबाह्याभ्यन्तरः सर्वस्य सह बाह्याभ्यन्तर-
रूपेण वर्तते नान्यः । अजो न जायते इत्यजः जन्मादिविक्रियारहित
इत्यर्थः । ‘ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्’ इत्यादि च अत्रोदाहर्तव्यमित्याह—
ब्रह्मैवेदमिति । इदं सर्वं ब्रह्मैवेत्यर्थः । एवं ब्रह्माद्वयात्मप्रतिपादकानि
वाक्यान्युदाहृत्य ब्रह्मण एव जीवात्मना कार्यप्रवेशनादिवाक्यानि च
जीवस्य ब्रह्माभेदप्रतिपत्त्यर्थमुदाहरति—एतया द्वारेत्यादिना । ‘स
एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत’ इति शिरःकपालयोः
सन्धिगतच्छिद्रेण देहे प्रवेशं स्रष्टुरीश्वरस्य दर्शयत्यैतरेयकवाक्यमित्य-
र्थः । तत्र प्रविष्टस्य स्वरूपनिर्धारणपरं वाक्यं—‘येन वा पश्यति येन वा
शृणोति’ इत्यादि ‘प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति’ इत्यन्तं प्रज्ञप्ति-
मात्रं तत्स्वरूपं प्रज्ञानं ब्रह्मेति । तस्य ब्रह्मात्मत्वं च तत्रोक्तमित्य-
भिप्रेत्याह—प्रज्ञानस्य नामधेयानीति । स्रष्टुरेव सृष्टे कार्ये जीवरू-
पेण प्रवेश इत्येतदेव तैत्तिरीयकवाक्येन द्रढयति—सत्यं ज्ञानमन-
न्तमित्यादिना । परमात्मैव सर्वसाक्षी सर्वभूतान्तरात्मा इत्यत्र श्वेता-
श्वतरीयमन्त्रमुदाहरति—एको देव इति । शरीरादिसंस्पृष्टतया प्रती-
यमानस्यापि आत्मनः तद्धर्मसंसर्गाभावेन ब्रह्मात्मनो ज्ञेयत्वे काठक-
वाक्यद्वयमुदाहरति—अशरीरं शरीरेषु । न जायते म्रियते वा
विपश्चिदिति च । अवस्थासाक्षिण आत्मनो अवस्थाधर्माऽस्पर्शित्वेन
ब्रह्मत्वप्रतिपत्तौ काठकवाक्यमाह—स्वप्नान्तं जागरितान्तमिति ।

नेम्यरनाभिरूपरथचक्रनिदर्शनेन दृश्यदर्शनतत्साधनभूतसर्वजगदाश्र-
यरूपं प्राणशब्दितं ब्रह्मैव स मे मम आत्मेति प्रवृत्तं कौषीतकीयोप-
निषद्वाक्यमुदाहरति—स म आत्मेति विद्यात् । ‘यस्तु सर्वाणि भूता-
न्यात्मन्येवानुपश्यति’, ‘तदेजति तन्नैजति’ इति च मन्त्रद्वयं ईशावा-
स्यगतमुदाहृतं, तत्र आद्यो मन्त्रः स्पष्टार्थः—द्वितीयः परोपाधिनिबन्धनं
चलनादिप्रतिमानम् स्वस्तुनिर्विकारः शुद्ध एवात्मा इति दर्शयितु-
मित्यर्थः । ‘वेनस्तत्पश्यन्विश्वा भुवनानि विद्वान्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्’
इति मन्त्रं तैत्तिरीया आमनन्ति तस्यार्थः—यत्र यस्मिन् सर्वात्मके
सर्वोपादाने पूर्वोत्तरमन्त्रनिर्दिष्टे वस्तुनि विश्वं समस्तं एकनीडं भवति
एकायनं वर्तते—तदेव विश्वा भुवनानि सर्वाणि भुवनानि न ततः
पृथक् किमप्यस्तीति पश्यन् श्रुत्याचार्यप्रसादादनुभवन् विद्वान् ज्ञानी
वेनो भवति—विनतेः कान्तिकर्मणो वनतेर्वा संभजनीयार्थस्य धातोः
इदं रूपम् । वेनः कान्तिमान् संभजनीयो वा भवति ईश्वरएव भवतीति ।
पुनरपि विदुषः सर्वात्मत्वे मन्त्रद्वयं पठति—‘तदेवाऽस्मिस्तद्वायुः’
इत्यादिरेकः ‘अहं मनुरभवं सूर्यश्च’ इति वामदेववाक्यरूपोऽपरश्चेति
‘अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्’, ‘एकः सन्बहुधा विचचार’ इति
तैत्तिरीयश्रुतिः एकस्यैवान्तर्यामिणो बहुधा विचरणं संसारव्यवहारं
वदन्ती जीवपरयोरभेदं सूचयतीत्यर्थः । तत्रैव सोपक्रमं छान्दोग्यवा-
क्यं पठति—सदेवेति ॥ ३७ ॥

श्रुत्युक्तेऽर्थे स्मृतीरप्याह—

स्मृतिभ्यश्च—‘पूः प्राणिनः सर्वगुहाशयम्’, ‘आत्मैव
देवताः’, ‘नवद्वारे पुरे’, ‘समं सर्वेषु भूतेषु’, ‘विद्यावि-
नयसंपन्ने’, ‘अविभक्तं विभक्तेषु’, ‘वासुदेवः सर्वम्’

इत्यादिभ्यः एक एवात्मा परं ब्रह्म सर्वसंसारधर्मविनि-
र्मुक्तस्त्वमिति सिद्धम् ॥ ३८ ॥

स्मृतिभ्यश्चेति । सर्वप्राणिनो गुहाशयस्य एकस्यैवात्मनः पूः
पुराणि शरीराणि न प्रतिशरीरमात्मभेद इत्यर्थः । उदाहृतश्रुतिस्मृत्यर्थं
संकल्प्य प्रकरणार्थमुपसंहरति—एक एवेति ॥ ३८ ॥

तदेवं श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धे ब्रह्मात्मैकत्वेऽभिहिते लौकिकवैदिक-
व्यवहारविरोधं शङ्कते—

स यदि ब्रूयात्—यदि भगवन्, ‘अनन्तरोऽवाह्यः’ ‘सवा-
ह्याभ्यन्तरो ह्यजः’ ‘कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव’ सैन्धवघनवदा-
त्मा सर्वमूर्तिभेदवर्जितः आकाशवदेकरसः तर्हि किमिदं
दृश्यते श्रूयते वा साध्यं साधनं वा साधकश्चेति श्रुतिस्मृ-
तिलोकप्रसिद्धं वादिशतविप्रतिपत्तिविषय इति ॥ ३९ ॥

स यदीति । गृहक्षेत्रदेशकोशादिकं साध्यमैहलौकिकं दृश्यते,
तत्साधनं च प्रतिग्रहसेवाविजययुद्धादि, तत्साधकश्च तदर्थिवर्गो
ब्राह्मणादिः दृश्यते, तथा यागादि साधनं, स्वर्गादि साध्यं, तत्कामश्च
साधकः इति पारलौकिकमपि त्रिकं श्रूयते—‘स्वर्गकामो यजेत’
इत्येवमादीत्यर्थः । कुत्र दृश्यते श्रूयते वा इत्याकाङ्क्षायामाह—श्रुति-
स्मृतिलोकप्रसिद्धमिति । लोक इति व्यवहर्तृजन उच्यते । देहात्मप्र-
सिद्धिवल्लोकप्रसिद्धेः । अतन्नत्वशङ्कायामाह—वादिशतेति । वादिशत-
विप्रतिपत्तीनां विषयो विषयत्वं यस्मिन्नुक्तत्रितये तत्तथोक्तम् ॥ ३९ ॥

व्यवहारस्य अविद्यात्मकत्वात् न तेन पारमार्थिकं ब्रह्मात्मैक्यं
विरुध्यत इति समाधत्ते—

आचार्यो ब्रूयात्—अविद्याकृतमेतद्यदिदं दृश्यते श्रूयते वा, परमार्थतस्त्वेक एवात्मा अविद्यादृष्टेः अनेकवत् आभासते, तिमिरदृष्ट्या अनेकचन्द्रवत् ‘यत्र वा अन्यदिव स्यात्’, ‘यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति’, ‘मृत्योः स मृत्युमाप्नोति’, ‘अथ यत्रान्यत्पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यमिति’, ‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्,’ ‘अन्योऽसावन्योऽहम्’ इति भेददर्शननिन्दोपपत्तेरविद्याकृतं द्वैतम् ‘एकमेवाऽद्वितीयम्’, ‘यत्र त्वस्य’, ‘को मोहः कः शोकः’ इत्याद्येकत्वविधिश्रुतिभ्यश्चेति ॥ ४० ॥

आचार्यो ब्रूयात् इत्यादिना । स्पष्टार्थः । उक्तेऽर्थे श्रुतीरुदाहरति—यत्र वा इत्यादिना । इवशब्दोऽन्यदर्शनस्य आभासत्वं द्योतयति । स्वभावस्थादृष्टान्तार्थो वैशब्दः । यत्र यदा अविद्यावस्थायां द्वैताभावेऽपि द्वैतमिव द्रष्टृदृश्यदर्शनभेदवद्भवति तत्तदा इतरो द्रष्टा इतरं स्वव्यावृत्तं कर्मभूतं विषयं इतरेण चक्षुषा करणेनेत्यर्थात् पश्यतीवेत्यर्थः । यच्च भेददर्शनोपलब्धं तदल्पं परिच्छिन्नं, यच्च परिच्छिन्नं तन्मर्त्यं विनाशि, यच्च विनाशि न तत्सत् । ‘नाऽसतो विद्यते भावः’ इति वचनादित्यर्थः । द्वैतस्याविद्याकृतत्वे श्रुतीरुपन्यस्य ब्रह्मात्माद्वयस्य परमार्थत्वे श्रुतीरुपन्यस्यन्ते—एकमेवेत्यादिना ॥ ४० ॥

ननु साध्यसाधनभेदश्चेदविद्याविषयः तर्हि मिथ्यार्थगोचरत्वात् कर्मकाण्डमप्रमाणं स्यात् इति शिष्यः शङ्कते—

यद्येवं भगवन्, किमर्थं श्रुत्या साध्यसाधनादिभेद उच्यते उत्पत्तिः प्रलयश्चेति ॥ ४१ ॥

यद्येवमिति । न केवलं कर्मकाण्डाप्राप्तापत्तिः द्वैतमिथ्यात्वे अपितु ज्ञानकाण्डेऽपि सृष्ट्यादिवाक्यानां निर्विषयतया प्रामाण्यहानि-
प्रसङ्ग इत्यभिप्रेत्याह—उत्पत्तिः प्रलयश्चेति । श्रुत्या किमर्थं उच्यते
इत्यनुषङ्गः ॥ ४१ ॥

तत्र वेदान्तवाक्यजनितब्रह्मात्मविज्ञानात्प्राक् कर्मकाण्डाप्राप्तापत्तिः
पातिः शङ्कते तदूर्ध्वं वा इति विकल्प्य आद्यं प्रत्याह—

अत्रोच्यते—अविद्यावत् उपात्तशरीरादिभेदस्य इष्टा-
निष्टयोगिनमात्मानं मन्यमानस्य साधनैरेवेष्टानिष्टप्राप्ति-
परिहारोपायविवेकमजानतः इष्टप्राप्तिं चानिष्टपरिहारं
चेच्छतः शनैस्तद्विषयमज्ञानं निवर्तयितुं शास्त्रं न साध्य-
साधनादिभेदं विधत्ते । अनिष्टरूपः संसारो हि स इति
तद्भेददृष्टिमेवाविद्यां संसारमुन्मूलयति उत्पत्तिप्रलयाद्ये-
कत्वोपपत्तिप्रदर्शनेन ॥ ४२ ॥

अत्रोच्यते—अविद्यावत् उपात्तेति । ‘अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्’
इति न्यायात् कर्तृसाधनफलभेदस्वरूपस्य शास्त्रज्ञानशून्यानामपि प्र-
सिद्धेः तत्र वेदस्यातात्पर्यात् यथाप्रसिद्धं भेदमादाय पुंसः पुरुषार्थ-
साधनमविज्ञातं बोधयतः शास्त्रस्य नाप्रामाण्यशङ्केत्यभिप्रेत्य संगृही-
तमर्थं विवृणोति—शरीरादिभेदस्येत्यादिना । साधनैरेव इष्टप्राप्तिं
अनिष्टपरिहारं चेच्छतः इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायविवेकमजानतः
शनैस्तद्विषयमज्ञानं निवर्तयितुं शास्त्रमित्यन्वयः । साधनैरेव इष्टानिष्ट-
प्राप्तिपरिहारेच्छायां निमित्तं विशेषणान्तरेण द्योतयन्नाह—शरीरेति ।
शरीरादिभेदस्य शरीरेन्द्रियादिसंघातविशेषस्य संबन्धिनी ये इष्टानिष्टे

तद्युक्तमात्मानं मन्यमानस्येति योजना । अयं भावः—अनाद्यविद्यावृ-
 त्तिजस्वभावस्य शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणेषु अध्यस्तात्मभावस्य परि-
 च्छिन्नमात्मानं मन्यमानस्य स्वातिरिक्तविषयसंबन्धाधीनमेव पुरुषार्थ-
 मिच्छतः तदुपायं पर्येषमाणस्य साक्षात्पुरुषार्थमात्मतत्त्वं बोद्धुमसम-
 र्थत्वात् प्रथमं तदमिलषितस्वर्गादिसुखादिसाधनं मानान्तरादविज्ञातं
 बोधयञ्छास्त्रं तं विधिनिषेधयोः व्यवस्थापयति । ततो विहितानुष्ठानात्
 निषिद्धपरिवर्जनाच्च अहरहरेधमानात्मशुद्धेः अनुपचीयमानपाप्मनो
 निषिद्धफलमिव काम्यफलमपि अनित्याशुचिदुःखरूपं संसार एवेति
 काम्यकर्मपरित्यागेन आवश्यकमेव कर्म ईश्वराराधनरूपमनुतिष्ठतः
 अतितरां शुद्धान्तःकरणस्य सूक्ष्मवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तियोग्यः अयमिदानीं
 जात इति आत्मतत्त्वज्ञानमज्ञातं परमपुरुषार्थसाधनमुत्पादयन् अनया
 प्रणालिकया अज्ञातार्थावबोधनेन अज्ञानं पुंसो निवर्तयितुं शास्त्रं
 प्रवृत्तमिति एतदभिप्रेत्य शनैरित्युक्तमिति । ननु किमित्येवं तात्पर्यं
 वर्ण्यते प्रतीयमानसाध्यसाधनभेदस्वरूपस्यापि शब्दशक्तितात्पर्यगोच-
 रता किं न स्यात् इत्याशङ्क्य उभयपरत्वे वाक्यभेदापत्तेर्मेवमित्याह—
 न साध्येति । कस्मादन्यतरपरत्वेऽपि वस्तुसत्त्वपरत्वं नेष्यते इत्याशङ्क्य
 अपुरुषार्थं तात्पर्यायोगात् इत्यभिप्रेत्याह—अनिष्टरूपः संसारो हि
 स इति । एवं कर्मकाण्डस्य अज्ञातार्थावबोधने तात्पर्यं न भेदस्य वस्तु-
 त्वबोधने इत्यप्रामाण्यशङ्कां तस्यापाकृत्य सृष्ट्यादिवाक्यस्य साक्षादद्वै-
 तवस्तुप्रतिपत्तिपरत्वात् न अप्रामाण्यशङ्केत्याह—तद्भेददृष्टिमिति ।
 उत्पत्तिप्रलयादेः इत्यादिपदात् स्थितिप्रवेशनियमनानि गृह्यन्ते । उत्प-
 त्तिप्रलयादेः एकत्वोपपत्तिदर्शनेन अद्वैतयुक्तिदर्शनद्वारेण संसारमूलम-
 विद्यामेवोन्मूलयति सृष्ट्यादिवाक्यमित्यध्याहारेण योजना । अविद्या-
 याः संसारमूलत्वं द्योतयितुं तां विशिनष्टि—तद्भेददृष्टिमिति । तस्य

साध्यसाधनसाधकरूपस्य भेदस्य दृष्टिः प्रतिभासो यस्याः सा तथोक्ता तामित्यर्थः ॥ ४२ ॥

अविद्योन्मूलने वा किं स्यादित्यत आह—

अविद्यायामुन्मूलितायां श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः ‘अनन्तरमवाह्यम्’, ‘सवाह्याभ्यन्तरो ह्यजः’, ‘सैन्धवघनवत्’, ‘प्रज्ञानघन एवैक आत्मा’, ‘आकाशवत्परिपूर्णः’ इत्यत्रैव एका प्रज्ञाप्रतिष्ठा परमार्थदर्शिनो भवति न साध्यसाधनोत्पत्तिप्रलयादिभेदेन अशुद्धिगन्धोऽप्युपपद्यते ॥ ४३ ॥

अविद्यायामुन्मूलितायामित्यादिना । एवं प्रतिष्ठितप्रज्ञस्य परमार्थदर्शिनः साध्यसाधनविशेषबुद्ध्यजनकत्वात् तदा कर्मकाण्डस्यैव स्वरूपतः अप्रतीतिः अप्रामाण्यमिष्टमेव इति विकल्पान्तरपरिहार उक्तो वेदितव्यः ॥ ४३ ॥

एवं सत यदुक्तं प्राक्—यद्येवं संसारी च सन्—इत्यादि तदप्यज्ञानविलसितं मुमुक्षायामुत्पन्नायां कर्मतत्साधनपरित्यागे हेत्वभावात् इत्यभिप्रेत्याह—

तच्चैतत् परमार्थदर्शनं प्रतिपत्तुमिच्छता वर्णाश्रमाद्यभिमानकृतपाङ्गरूप-पुत्रवित्तलोकैषणादिभ्यो व्युत्थानं कर्तव्यम् । सम्यक्प्रत्ययविरोधात्तदभिमानस्य भेददर्शन-प्रतिषेधार्थोपपत्तिश्चोपपद्यते । नह्येकस्मिन्नात्मन्यसंसारित्वबुद्धौ शास्त्रन्यायोत्पादितायां तद्विपरीता बुद्धिर्भवति । नह्यग्नौ शीतत्वबुद्धिः शरीरे वा अजरामरणबुद्धिः ।

तस्मादविद्याकार्यत्वात् सर्वकर्मणां तत्साधनानां च यज्ञो-
पवीतादीनां परमार्थदर्शननिष्ठेन त्यागः कर्तव्यः ॥ ४४ ॥

यच्चैतदिति । पाङ्करूपेति । पञ्चप्रकारेत्यर्थः । यजमान-पत्नी-पुत्र-
वित्तद्वयसाध्यकर्मफलभूतैतल्लोक-पितृलोक-देवलोकैषणाभ्यो व्युत्थानं
वैपरीत्येनोत्थानं तत्र निस्पृहतया तत्साधनसर्वकर्म तदुपकरणसंन्या-
सरूपं पारिव्राज्यं कर्तव्यमित्यर्थः । आपाततः परोक्षतो वा अधिगत-
ब्रह्मात्मभावस्य तदा आपरोक्ष्योन्मुखस्य ब्राह्मण्यादिदेहाद्यध्यासनिबन्ध-
नकर्माधिकारित्वाभिमानशैथिल्यात् तस्योद्देश्यविरोधाच्च त्याज्यमेव
ससाधनं कर्म इत्युक्तेऽर्थे हेतुमाह—सम्यगिति । अमेददर्शनमेव
सम्यग्ज्ञानं तदिच्छता च तद्विरुद्धाभिमानः तदास्पदं सर्वं त्याज्यं
इत्यत्रैव श्रुतार्थापत्तिमाह—भेददर्शनेति । ‘मृत्योः स मृत्युमाप्नोति
य इह नानेव पश्यति’, ‘उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति’
इत्यादिभेददर्शनप्रतिषेधरूपो योऽर्थः तस्योपपत्तिः उपपादनं सोपपद्यते
इत्यक्षरार्थः । भेदस्य तत्प्रयुक्ताभिमानस्य च प्रामाणिकत्वं श्रुत्या तन्नि-
षेधो न घटेत् । नहि प्रमाणसिद्धस्य प्रमाणेन प्रतिषेधः संभवति । न
च प्रतिषेधश्रुतेः विषयान्तरमुत्प्रेक्ष्यते । अतः प्रतिषेधकवाक्यानां
भेदापवादपरत्वाभावे तदा आम्नानमनर्थकं स्यात् । तच्चानिष्टम् ।
अध्ययनविधिविरोधादिति भावः । ननु सम्यग्ज्ञानस्य कर्मसमुच्चितस्यैव
मोक्षसाधनत्वात् न विहितकर्मत्यागो युक्त इत्यत आह—न हीति ।
विरोधादेव समुच्चयस्य अनुष्ठातुमशक्यत्वात् तद्विधानासंभवात् कर्म-
जन्यस्य च अनित्यत्वात् मोक्षत्वानुपपत्तेः न ज्ञानकर्मसमुच्चयो मोक्ष-
साधनमिति भावः । यद्वा उक्तमेव विरोधं दृष्टान्तोक्त्या द्रढयति—
नहीत्यादिना । निरूपितमर्थसारमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ ४४ ॥
॥ इति शिष्यप्रतिबोधनविधिर्नामप्रथमप्रकरणं विवृतम् ॥ १ ॥

कूटस्थाद्वयात्मबोधप्रकरणम् ॥ २ ॥

तदेवं शिष्यस्य देहद्वयाभिमानापोहेन ब्रह्मरूपत्वमुपदिश्य तस्या-
वस्थायां कर्मतत्साधनसंन्यासो न्यायत उपपादितः, ब्रह्मस्वभावविपरीतं
च अविद्याकृतमित्युपक्षिप्तं, तदिदानीं अब्रह्मस्वरूपत्वस्य अविद्यात्मक-
त्वं आत्मनः कूटस्थतया स्वाभाविकं ब्रह्मरूपत्वं च उपपादयितुं प्रक-
रणान्तरमारभमाणः कृतसंन्यासस्य मुमुक्षोः कृत्यं श्रवणं विधितः
सूचयन् शिष्यप्रश्नमवतारयति—

सुखमासीनं ब्राह्मणं ब्रह्मनिष्ठं कश्चिद्ब्रह्मचारी जन्मम-
रणलक्षणात् संसारात् निर्विण्णो मुमुक्षुः विधिवदुपस-
न्नः पप्रच्छ—भगवन्, कथमहं संसारान्मोक्षिष्ये शरीरे-
न्द्रियविषयवेदनावान् जागरिते दुःखमनुभवामि तथा
स्वप्नेऽनुभवामि च पुनः पुनः सुषुप्तिप्रतिपत्त्या विश्रम्य
विश्रम्य, किमयमेव मम स्वभावः किंवा अन्यस्वभावस्य
सतो नैमित्तिकः इति । यदि स्वभावः न मे मोक्षाशा
स्वभावस्यावर्जनीयत्वात् । अथ नैमित्तिकः निमित्तपरिहारे
स्यान्मोक्षोपपत्तिः ॥ ४५ ॥

सुखमिति । सुखमासीनमित्यनेन अविक्षिप्तचित्ततया प्रसन्नतो-
क्ता । व्यावहारिकदृष्ट्या ब्राह्मणमित्युक्त्या अनापदि ब्राह्मणेतरवर्णात्
नोपदेशो ग्राह्य इति सूचयति । परमार्थतो ब्रह्मनिष्ठमित्युक्त्वा शिष्य-
प्रतिबोधनसामर्थ्यं सूच्यते—कश्चिदिति । प्रागुक्तगुणगणाद्व्य-
सुपरीक्षितः शिष्यः उक्तः—तस्योपदेशग्रहणकाले एकाकित्वं सूचयितुं
कश्चिदित्युक्तम् । तस्य विशेषणानि—ब्रह्मचारीत्यादीनि । ब्रह्मणि

प्रत्यक्तत्वे चरितुं विचरितुं शीलमस्यास्तीति ब्रह्मचारी ब्रह्मविचारत-
त्पर इत्यर्थः । अनेन नित्यानित्यवस्तुविवेको दर्शितः । विशेषणान्तरे-
ण वैराग्यमुक्तम् । विवेकवैराग्ययुक्तस्य शान्त्यादिः अर्थप्राप्त इति
मत्वा चरमं विशेषणमाह—मुमुक्षुरिति । ‘तद्विज्ञानार्थं स गुरु-
मेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्’ इत्यादिशास्त्रमनुस-
रन्नाह—विधिवदुपसन्न इति । प्रश्नप्रकारमेवाह—भगवन्नित्या-
दिना, नैमित्तिक इत्यन्तेन ग्रन्थेन । संसारमोक्षविषयः एकः
प्रश्नः, दुःखानुभवस्यात्मस्वभावत्वविषयोऽपरः किमयमित्यादिप्रश्न इति
विवेकः । प्रथमप्रश्नस्य निमित्तमाह—शरीरेति । शरीरेन्द्रियविष-
यनिमित्तवेदनानुभवो हि संसारः । तद्वान्सन् अहं कथं संसारान्मो-
क्षिष्य इति । जागरित इति द्वितीयप्रश्नस्य बीजमुक्तम् । जाग्रत्स्वप्न-
योः दुःखानुभवात् सुषुप्तौ च आत्मनि तत्तदननुभवात् संशयोत्थान-
मित्यर्थः । नैमित्तिक इति च पप्रच्छेत्यन्वयः । उभयत्र फलमाह—
यदि स्वभाव इत्यादिना ॥ ४५ ॥

अस्वभावपक्षमवलम्ब्य गुरुरुत्तरं वदन् न भेतव्यं त्वयेति शिष्यं
आश्वासयतीत्याह—

तं गुरुरुवाच—शृणु वत्स, न तवायं स्वभावः । नैमि-
त्तिकः ॥ ४६ ॥

तं गुरुरिति । किंत्विति मध्ये अध्याहारः कर्तव्यः ॥ ४६ ॥
कृताश्वासः शिष्य उवाच—

इति उक्तः शिष्य उवाच—किं निमित्तं, किं वा तस्य
निवर्तकम्, को वा मम स्वभावः यस्मिन्निमित्ते निवर्ति-
ते नैमित्तिकाभावः रोगनिमित्तनिवृत्ताविव रोगी स्वभावं
प्रपद्येयेति ॥ ४७ ॥

किं निमित्तमिति । निमित्तनिवृत्तिमन्तरेण नैमित्तिकस्यात्यन्ति-
कनिवृत्त्यनुपपत्तेः तत्स्वरूपमविदित्वा तत्परिहारायोगात् तस्य प्रश्नः
कृतः, निवर्तकप्रश्नस्तु स्वभावपरिज्ञानेन तदवलम्बनार्थः । सुखदुःखा-
दिमत्त्वस्य अस्वभावत्वोक्तौ तर्हि किं स्वभाव आत्मेति, निःस्वभावं वस्तु
नास्तीति मन्वानः पृच्छति—को वेति । यस्मिन्निमित्ते निवर्तिते
नैमित्तिकाभावः तर्त्किनित्तं किं वा तस्य निवर्तकमित्यन्वयः ।
इवशब्दो यथाशब्दार्थः । रोगी रोगनिमित्तनिवृत्तौ यथा स्वभावं
प्रतिपद्यते तथा दुःखनिमित्तनिवृत्तौ यं स्वभावमहं प्रतिपद्येय स को
वा मम स्वभावः इति योजना, इति शिष्य उवाचेति संबन्धः ॥४७॥

पृष्टवस्तुस्वरूपकथनेन उत्तरं गुरुवाच—

गुरुवाच—अविद्या निमित्तं, विद्या तस्य निवर्तिका,
अविद्यायां निवृत्तायां तन्निमित्ताभावात् मोक्ष्यसे जन्म-
मरणलक्षणात्, स्वप्नजाग्रदुःखं च नानुभविष्यसीति ॥४८॥

अविद्येत्यादिना । सा अविद्या निमित्तं निदानं यस्य स संसारः
तन्निमित्तः तस्य अभावात् इति विग्रहः । तदा स्वप्नजागरितदुःखं
च आत्मधर्मत्वेन नानुभविष्यसीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

स्वरूपतोऽवगतपदार्थानां विशेषबुभुत्सया विनेयः पृच्छतीत्याह—

शिष्य उवाच—का सा अविद्या, किंविषया वा,
विद्या च का यया स्वभावं प्रतिपद्येयेति ॥ ४९ ॥

शिष्य उवाचेति । वाशब्दश्चार्थे । किमाश्रया च सेत्यर्थः ।
स्वभावं प्रतिपद्येय । जाग्रदादावपि दुःखाद्यनुभवहीनमात्मतत्त्वं उप-
संपद्येयेत्यर्थः ॥ ४९ ॥

तव स्वरूपावरणविपर्ययाध्यासलक्षणा त्वत्स्वरूपाश्रयविषया अविद्येति प्रथमप्रश्नस्योत्तरं गुरुरुवाचेत्याह—

गुरुरुवाच—त्वं परमात्मानं सन्तं असंसारिणं संसार्य-
हमस्मीति विपरीतं प्रतिपद्यसे, अकर्तारं सन्तं कर्तेति,
अभोक्तारं सन्तं भोक्तेति, विद्यमानं च अविद्यमानमिति,
इयमविद्या ॥ ५० ॥

गुरुरिति—परमात्मानं परिपूर्णस्वरूपं, विपरीतं परिच्छिन्नस्वरूपं
अहमस्मीति त्वं प्रतिपद्यसे इति प्रतिद्वन्द्वं योज्यम् । यन्निमित्तमेवं
संसार्याद्यात्मतामेव प्रतिपद्यसे परिपूर्णत्वाद्यात्मत्वं विद्यमानमपि न
प्रतिपद्यसे, सेयमविद्या त्वदाश्रया त्वद्विषया चेति त्वदनुभवसिद्धा ।
त्वं तु चिदानन्दैकरसः कूटस्थ इत्यभिप्रायः । विद्यमानं चाविद्य-
मानमिति । नित्यं सन्तमनित्यमित्यर्थः ॥ ५० ॥

शिष्यस्तु आत्मनो नित्यत्वमुक्तत्वमङ्गीकृत्य असंसार्याद्यात्मत्वमुक्तं
आक्षिपति इत्याह—

शिष्य उवाच—यद्यप्यहं विद्यमानः तथापि न पर-
मात्मा, कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारो मम स्वभावः, प्रत्य-
क्षादिभिः प्रमाणैः अनुभूयमानत्वात् । न अविद्यानिमित्तः
अविद्यायाः स्वात्मविषयत्वानुपपत्तेः । अविद्या नाम अ-
न्यस्मिन् अन्यधर्माध्यारोपणा—यथा प्रसिद्धं रजतं प्रसि-
द्धायां शुक्तिकायां, यथा प्रसिद्धं पुरुषं स्थाणावध्यारोप-
यति प्रसिद्धं वा स्थाणुं पुरुषे । नाप्रसिद्धं प्रसिद्धे प्रसिद्धं
चाप्रसिद्धे । नचात्मन्यनात्मानमध्यारोपयति आत्मनः

अप्रसिद्धत्वात् । तथा आत्मानं अनात्मनि आत्मनोऽप्र-
सिद्धत्वादेव ॥ ५१ ॥

शिष्य उवाचेति । प्रत्यक्षं अहंकर्तेत्यादिप्रत्ययः कर्तृत्वादिः
साश्रयः धर्मत्वात्, रूपादिवदिति साश्रयत्वे सिद्धे न अचेतने सुख-
दुःखं पाषाणादौ तददर्शनात्, परिशेषात् चेतनाश्रयत्वसिद्धिरनुमानम्
'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव सचोपभोक्ता 'स एष
सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' इत्यादिरागमश्च आदि-
शब्दार्थः । विपक्षे बाधिकां युक्तिं संगृह्णाति—अविद्यायाः स्वात्म-
विषयत्वानुपपत्तेरिति । अविद्यास्वरूपोपन्यासपूर्वकं संगृहीतमर्थं
विवृणोति—अविद्या नामेत्यादिना । मिथ्याज्ञानमेवाविद्योक्तेति
मन्वानस्य अयमुपन्यासः । शुक्तिकायां अध्यारोपयतीति वक्ष्यमाण-
स्यानुषङ्गः । एवं उत्तरत्राप्यनुषङ्गो द्रष्टव्यः । कस्मिंश्चिद्विषयभूतेऽर्थे
अन्यतः प्रसिद्धस्य विषयान्तरस्याध्यारोपो हि अविद्येति प्रसिद्धिः ।
तत्र आत्मा यदि प्रसिद्ध एव स्यात् तदा तस्य अध्यासविरोधिप्रका-
शात्मकत्वात् न तस्मिन् अतद्धर्मप्रतिभासः स्यात् । यदि अप्रसिद्धः
तदा विषयास्फुरणात् कुत्र अतद्धर्मप्रतिभासो भवेत्, तथाच कर्तृ-
त्वादेः आत्मनि आविद्यकत्वानुपपत्तिः । अतः स्वाभाविक एवात्मनः
कर्तृत्वादिलक्षणो धर्म इत्यभिप्रायः ॥ ५१ ॥

तत्र अधिष्ठानाध्यस्यमानयोः पृथक् प्रसिद्धिमन्तरेण अध्यासा-
नुपपत्तेरिति ते मतं, किं वा प्रसिद्धिमात्रं विना इति विकल्प्य
नान्त्यः प्रसिद्धिमात्रस्याङ्गीकारात् इत्यभिप्रेत्य आद्यं निराकरोति—

तं गुरुवाच—न, व्यभिचारात् । नहि वत्स, प्रसिद्धं
प्रसिद्ध एवाध्यारोपयतीति नियन्तुं शक्यम् । आत्मन्य-

ध्यारोपणदर्शनात् । गौरोऽहं कृष्णोऽहमिति देहधर्मस्य
अहंप्रत्ययविषये आत्मनि, अहंप्रत्ययविषयस्य च आत्म-
नः देहे अयमस्मीति ॥ ५२ ॥

गुरुखाच । न, व्यभिचारादिति । सुषुप्त्यादौ आत्म-
न्यवभासमानेऽपि कर्तृत्वाद्याकारस्य अनवभासात् विशिष्टात्मविषय-
त्वमेव प्रत्यक्षानुमानागमानामिति अविद्यात्मत्वाबाधकत्वमिति द्रष्ट-
व्यम् । वत्सेति संबोधयन् अद्यापि त्वं बाल एव न न्यायमार्गे
व्युत्पन्न इति दर्शयति । अन्यत्र पृथक् प्रसिद्धमेव अन्यत्र प्रसिद्धे
अध्यारोपयतीति नहि नियन्तुं शक्यते व्यभिचारात् इत्यन्वयः ।
कुत्र व्यभिचार इति तत्राह—आत्मनीति । संग्रहं विवृणोति—
गौरोऽहमिति । देहातिरिक्तात्मवादिभिः कृशोऽहमित्यादिदेहधर्माव-
भासः आत्मन्यहंप्रत्ययविषये । तस्य च देहे मनुष्योऽहं जानामीत्य-
वभासोऽपि अध्यासोऽङ्गीक्रियते । नहि देहात्मनोः पृथक्प्रसिद्धिरस्ति ।
अतः तत्रोक्तनियमभङ्ग इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

यथा स्थाणुपुरुषयोः प्रसिद्धयोः अन्योन्यस्मिन्नध्यासः तथा देहा-
त्मनोरपि इन्द्रियविषयत्वेन अहंप्रत्ययविषयत्वेन च प्रसिद्धयोरेव
इतरस्मिन्नितराध्यासे विशेषाभावान्न व्यभिचार इति शङ्कते—

शिष्य आह—प्रसिद्ध एव तर्ह्यैवात्मा अहंप्रत्ययविष-
यतया देहश्च अयमिति । तत्रैवंसति प्रसिद्धयोरेव देहा-
त्मनोरितरेतराध्यारोपणात् स्थाणुपुरुषयोः शुक्तिकारज-
तयोरिव । तत्र कं विशेषमाश्रित्य भगवतोक्तं प्रसिद्धयो-
रितरेतराध्यारोपणेति नियन्तुं न शक्यते इति ॥ ५३ ॥

शिष्य आहेति । तथाच अहंकर्तृचिदात्मनोः पृथगवभासाभा-
वात्तेतरेतराध्यास इति दार्ष्टान्तिकासिद्धिरिति भावः ॥ ५३ ॥

आचार्यस्तु देहात्मनोः प्रसिद्धत्वेऽपि त्वदभिमतनियमस्तत्र ना-
स्तीत्यभिप्रेत्य व्यभिचारं द्रढयतीत्याह—

गुरुराह—शृणु । सत्यं प्रसिद्धौ देहात्मानौ नतु स्थाणु-
पुरुषाविव विविक्तप्रत्ययविषयतया सर्वलोकप्रसिद्धौ ।
कथं तर्हि नित्यमेव निरन्तराविविक्तप्रत्ययविषयतया ।
नहि अयं देहः, अयमात्मा, इति विविक्ताभ्यां प्रत्यया-
भ्यां देहात्मानौ गृह्णाति यतः कश्चित् । अतएव हि
मोमुह्यते लोकः आत्मानात्मविषये एवमात्मा नैवमा-
त्मा इति । इमं विशेषमाश्रित्यावोचं नैवं नियन्तुं शक्य-
मिति ॥ ५४ ॥

गुरुरिति । सत्यं प्रसिद्धौ देहात्माना तत्र शृणु विशेषमिति
योजना ।—नत्विति । अविविक्तप्रत्ययविषयतया प्रसिद्धिमेवाभि-
नयति—नह्ययमित्यादिना । तत्र लिङ्गमाह—अतएव हि मो-
मुह्यते लोक इति । मोहातिशयमेवाभिनयति—एवमात्मेति ।
देह आत्मा, इन्द्रियाण्यात्मा, कर्ता आत्मा, अकर्ता आत्मा, व्यापकः,
परिच्छिन्नः, सगुणः, निर्गुणः, इति लोकवादिविप्रतिपत्तेः सर्वो लोको
मोमुह्यमानो दृश्यते । विविक्ततयोपलम्भे तु इदं न स्यात्—इति
अस्तिविशेष इत्युपसंहरति—इमं विशेषमिति । तस्मात् एकज्ञानो-
परक्ततया उपलम्भ एव अध्यस्यमानाधिष्ठानयोः सिद्धिः अध्यासे
अपेक्ष्यते न पृथक्सिद्धिः—इत्यतः अहं कर्ता मोक्तेत्यपि अहं मनुष्य
इतिवत्—व्याकारप्रतिभासादध्यारोपत्वसिद्धिरिति भावः ॥ ५४ ॥

ननु आत्माऽनात्मनोः उभयोरपि यदि अध्यासगोचरता तदा अध्यस्तस्य मिथ्यात्वात् आत्मनः सत्त्वानुपपत्तिप्रसङ्ग इति शिष्यः शङ्कते—

ननु अविद्याऽध्यारोपितं यत्र यत् तदसत् तत्र दृष्टं यथा रजतं शुक्तिकायां, स्थाणौ पुरुषं, रज्ज्वां सर्पः, आकाशे तलमलिनत्वमित्यादि, तथा—देहात्मनोरपि नित्यमेव निरन्तराविविक्तप्रत्ययतया इतरेतराध्यारोपणा कृता स्यात् तदितरेतरयोः नित्यमेव असत्त्वे स्यात् । यथा शुक्तिकादिषु अविद्याध्यारोपितानां रजतादीनां नित्यमेव अत्यन्तासत्त्वं तद्विपरीतानां च विपरीतेषु तद्वत् देहात्मनोरविद्यैव इतरेतराध्यारोपणा कृता स्यात् । तत्रैवंसति देहात्मनोरसत्त्वं प्रसज्येत । तच्चानिष्टं वैनाशिकपक्षत्वात् । अथ तद्विपर्ययेण देहः आत्मन्यविद्ययाऽध्यारोपितः देहस्यात्मनि सति असत्त्वं प्रसज्येत । तच्चानिष्टं प्रत्यक्षादिविरोधात् । तस्माद्देहात्मानौ नाविद्यया इतरेतरस्मिन् अध्यारोपितौ कथं तर्हि वंशस्तम्भवन्नित्यसंयुक्तौ ॥ ५५ ॥

नन्विति । यद्यदविद्याध्यारोपितं तत्तदसत् दृष्टं यथा शुक्तिकादौ रजतादीति व्याप्तिमुक्त्वा पक्षधर्मतामाह—तथा देहात्मनोरपीति । अनुमानं प्रयुक्ते—तदितरेतरयोरित्यादिना । तत्र व्याप्तिपक्षधर्मत्वसिद्धौ सत्यामिति यावत् । आत्मनि अनात्मा, अनात्मनि च आत्मा नित्यमेवासम्भविष्यतीति नित्यमेवेतरेतराध्यस्तत्वात् शुक्ति-

कादौ रजतादिवत् रजतादौ शुक्त्यादिवच्चेति । अवयवत्रयमभिधाय
 उपनयनिगमने निदर्शयति—तद्देहात्मनोरिति । सिद्धसाध्यत्वशङ्कां
 निराकरोति—तच्चानिष्टमिति । ननु नेतरेतराध्यासोऽङ्गीक्रियते-
 येनात्मनोऽप्यसत्त्वप्रसङ्गः स्यात्, किंतु अन्यतराध्यास एव अन्य
 त्राङ्गीक्रियत इत्याशङ्कते गुरुः—अथेति । तद्विपर्ययेण अनात्मा-
 धिष्ठानविपर्ययेणेत्यर्थः । तदेव स्पष्टयति—देह इति । शिष्यो नि-
 राकरोति—देहस्यात्मनि सतीति । यथा शुक्तिकादौ सत्येव नेदं
 रजतं इत्यादिना तदसत्त्वं प्रतीयते तथा आत्मनि अहमवभासे सत्येव
 देहस्यासत्त्वमनुभूयते नह्यनुभूयते । अनुभूयत एव इत्युभयपगमः प्रमा-
 णविरोधादयुक्त इत्यर्थः । यस्मादेवं युक्तिं न सहते तस्मान्नाध्यास
 इत्युपसंहरति—तस्मादिति । कथं तर्हि अहं मनुष्य इत्यादिव्यव-
 हारो लोकस्येति गुरुः शङ्कते—कथं तर्हीति । शिष्यो मीमांसका-
 दिमतमाश्रित्य संयोगसंबन्धादिति सहष्टान्तमाह—वंशस्तम्भवदि-
 ति । यथा वंशानां स्तम्भानां आधाराधेयभावेन परस्परं संयोगवि-
 शेषे सति गृहमित्येकशब्दप्रत्ययगोचरत्वं एवं देहात्मनोरपि संयोग-
 विशेषात् अहं मनुष्य इत्यादिसामानाधिकरण्यव्यवहारगोचरत्वमि-
 त्यर्थः ॥ ५५ ॥

सिद्धान्ती परिशेषेण इतरेतराध्यासं साधयितुं उक्तसंबन्धं ताव-
 त्प्रत्याचष्टे—

न । अनित्यत्वपरार्थत्वप्रसङ्गात्—संहतत्वात् परार्थत्वं
 अनित्यत्वं च वंशस्तम्भादिवदेव । किंच यस्तु परैर्देहेन
 संहतः कल्पित आत्मा स संहतत्वात् परार्थः । तेन
 असंहतः परोऽन्यो नित्यः सिद्धस्तावत् ॥ ५६ ॥

न । अनित्यत्वेति । यत्संहतं तदनित्यं परार्थं च दृष्टं यथा वं-
शस्तम्भादि, तथा यदि आत्मापि देहादिभिः संहत एव स्यात् तदा
सोऽप्यनित्यः परार्थश्च स्यात्, तच्चानिष्टम् । अनित्यत्वे संघातात्मवा-
दापत्तेः, परार्थत्वे च अचेतनत्वापत्तेरित्यर्थः । एवं परपक्षनिराकर-
णेन अर्थान्नित्यः स्वार्थश्चात्मा अभ्युपेय इत्युक्तं तदेवानूद्य आस्तिकैः
सुदूरमपि गत्वा सोऽभ्युपगन्तव्य इत्यभिप्रेत्य स्वपक्षं साधयति—किं-
चेति । तेन परार्थेन अनित्येन संघातेन लिङ्गेन परः संघातादन्यो
विलक्षणः तावदात्मा नित्यः सिद्ध इति योजना । विमतः स्वविलक्ष-
णशेषसंहतत्वात् गृहवत् इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

ननु सत्यं संघातादचेतनादन्य आत्मा तस्य संघातासंबन्धे अहं
मनुष्य इति व्यवहारानुपपत्तेः तत्संबन्धो वाच्यः । तत्र संयोगवि-
शेषस्यानङ्गीकारे तादात्म्याध्यासः संबन्ध इत्यायातम्, तथाच नि-
रात्मवादापत्तिरिति प्रागुक्तं शिष्यः स्मारयति—

तस्यासंहतस्य देहे देहमात्रतया अध्यारोपितत्वेन
असत्त्वानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गो भवति । तत्र निरात्मको
देह इति वैनाशिकपक्षप्राप्तिदोषः स्यात् ॥ ५७ ॥

तस्यासंहतस्येति । तस्यासंहतस्य संघातसाक्षिणो देहे स्वस्मिन्न-
ध्यस्ते इति योज्यम् । देहस्य स्वातन्त्र्येण सिद्ध्यनङ्गीकारादित्यर्थः ।
तथाच तादृशे देहे अध्यारोपितत्वेन हेतुना आत्मनो देहमात्रतया
असत्त्वानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गो भवति । तत्र एवं परस्पराध्यासाभ्युप-
गमे सतीति यावत् । अध्यस्तस्य मिथ्यात्वनियमान्निरात्मको देहो
निर्देहकश्चात्मेति शून्यवादप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

किं शून्यवादप्रसङ्गात् तादात्म्यावभासस्य अध्यासनिबन्धनत्वं

नेष्यते भवता, किंवा आधाराधेयभावादिसंबन्धस्य प्रामाणिकस्य तद्धेतोः सत्त्वात् इति विकल्प्य आद्यं निराकरोति गुरुः—

न स्वत एवात्मनः आकाशस्येव असंहतत्वाभ्युपग-
मात् सर्वेणासंहतः स च आत्मेति न निरात्मको देहादिः
सर्वः स्यात् । यथाच आकाशं सर्वेणासंहतमिति सर्वं न
निराकाशं भवति एवम् । तस्मान्न वैनाशिकपक्षप्राप्ति-
दोषः स्यात् ॥ ५८ ॥

न स्वत एवेति । अयमर्थः—देहादिर्हि रूपादिमत्त्वात्सावयव-
त्वाद्वा घटादिवत् जडोऽपि सन् तद्विलक्षणचेतनात्मतयोपलभ्यते ।
ततश्च तप्तायःपिण्डवत् तस्य चेतनसंश्लेषो वक्तव्यः । तथा आत्मनः
संघातसाक्षिणः चैतन्यमात्रस्वभावस्य निरवयवस्य आकाशवत् स्वतः-
परिच्छेदाशुद्ध्यादिधर्मयोगासंभवात् देहसंश्लेषकृतः तस्मिन् तत्प्रति-
भास इति वक्तव्यम् । तथाच इतरेतरधर्मसंसर्गितया उभयोरितरेत-
राध्यासे अनुभवानुसारेणैव सिद्धे निरधिष्ठानस्यारोपस्य अदृष्टचरत्वात्
आरोपज्ञाने स्फुरतोर्मध्ये यदन्योपरागमन्तरेण कदापि स्वातन्त्र्येण
न स्फुरति तत्स्वरूपेणैवारोपितं भवति । यथा गगनोपरक्ततया स्फुर-
न्मालिन्यादि, यत्तु तद्विपरीतं तदितरस्मिन् न स्वरूपेणारोपितं भवति,
किंतु संसृष्टरूपेणैव यथा शुक्लीदमंशादिरूप्यादौ तत्रात्मनो देहाद्यु-
परागं विनापि सुषुप्त्यादौ स्वतःस्फुरणात् तस्य संघाते स्वरूपेण
नाध्यासः, किंतु संसृष्टत्वेनैव देहादेस्तद्विपरीतत्वात् स्वरूपेणैवेति न
अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः चिदात्मनः । नापि देहादेर्निरात्मकत्वप्रसङ्ग
इति न शून्यवादशङ्कावकाशः । देहस्य तु चैतन्याध्यासव्याप्ततया
चिद्धर्माध्यारोपाधिष्ठानत्वमुपचर्यते इति न परस्पराध्यासपक्षे कश्चि-

दोष इति स्वतोऽसंहतस्यात्मनः सर्वत्र सर्वदा विद्यमानत्वात् न संघातो निरात्मकः स्यात् । नाप्यात्मा अनित्यत्वादिदोषवान् स्यादित्यर्थः । आकाशस्येवेत्युक्तं दृष्टान्तं विवृणोति—यथाचाकाशमिति । स्वपक्षदूषणोद्धारमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ ५८ ॥

तदेवं दूषणोद्दारेण इतरेतराध्यासं तादात्म्यव्यवहारहेतुं ग्राहयित्वा आद्यं विकल्पं निराकर्षति । इदानीं परमते दूषणमापादयितुं द्वितीयमुत्थापयति—

यत्पुनरुक्तं देहस्यात्मन्यसत्त्वे प्रत्यक्षादिविरोधः स्यादिति । तन्न । प्रत्यक्षादिभिः आत्मनि देहस्य सत्त्वानुपलब्धेः । नह्यात्मनि कुण्डे वदरं क्षीरे सर्पिः तिले तैलं भित्तौ चित्रमिव च प्रत्यक्षादिभिः देह उपलभ्यते । तस्मान्न प्रत्यक्षादिविरोधः ॥ ५९ ॥

यत्पुनरुक्तमिति । निराकरोति—तन्नेति । आत्मनि देहोऽस्तीत्येवं प्रत्यक्षं तावत् न संभवति । चक्षुःस्पर्शनाभ्यां देहस्य गृहीतत्वेऽपि आत्मनः ताभ्यामगृहीतत्वात्, तद्ग्रहणाभावे च तत्रेदमिति ग्रहणानुपपत्तेः । ‘ पराञ्चि खानि ’ इति श्रुतेश्च नात्मा इन्द्रियविषयः । अतो न तस्मिन् देहसंबन्धः प्रत्यक्षः । अतएव नानुमानादिगोचरत्वमपीत्यभिप्रेत्य अनुपलब्धि व्यतिरेकदृष्टान्तैर्विवृणोति—नहीत्यादिना । आद्यः प्रत्यक्षस्य, द्वितीयोऽनुमानस्य, तृतीयोऽर्थापत्तेः । नहि कुण्डे वदरवत् देहात्मानौ एकदेशसंलग्नावुपलभ्येते इत्युक्ते भित्तिचित्रयोर्भेदेनानुपलम्भेऽपि यथा आधाराधेयभावः तथा अत्राऽपीत्याशङ्क्याह—भित्तौ चित्रमिवेति । चित्राङ्किताया भित्तेः उपलम्भवत् देहाकाराङ्कित आत्मा नोपलभ्यते । तथा सति मयि

मनुष्यो देहोऽयमस्तीति व्यवहारः स्यात् । नतु मनुष्योऽहं स्थूलोऽह-
मित्यादिरिति समुदायार्थः ॥ ५९ ॥

ननु सामान्यतो गृहीते विशेषतश्चागृहीते विषये विषयान्तराध्या-
सो दृष्टः, तदिहात्मनः प्रत्यक्षाद्यविषयत्वे कथं तत्रानात्माध्यारोपः,
अनात्मनि च कथमात्माध्यारोपः, तस्य अत्यन्तासत्त्वे इत्यभिप्रेत्य
शिष्यः शङ्कते—

कथं तर्हि प्रत्यक्षाद्यप्रसिद्धात्मनि देहाध्यारोपणा,
देहे च आत्मारोपणा ॥ ६० ॥

कथं तर्हीति ॥ ६० ॥

किं आत्मनः स्फुरणाभावात् तत्राध्यासो न संभवतीत्युच्यते, किं
वा विषयत्वेन स्फुरणाभावात्, गृहीतसामान्यांशागृह्यमाणविशेषांशा-
भावाद्वा । तत्र नाद्यः इत्याह—

नायं दोषः । स्वभावप्रसिद्धत्वादात्मनः । नहि कादा-
चित्कसिद्धावेव अध्यारोपणा न नित्यसिद्धौ इति निय-
न्तुं शक्यं, आकाशे तलमलाद्यध्यारोपणदर्शनात् ॥ ६१ ॥

नायं दोषः । स्वभावप्रसिद्धत्वादात्मन इति । स्वप्रकाशस्या-
त्मनः स्वमहिम्नैव स्फुरणादित्यर्थः । न द्वितीय इत्याह—नहीति ।
आकाशे अप्रत्यक्षेऽपीति शेषः । अनैन्द्रियकेऽप्याकाशे ऐन्द्रियकअ-
मदर्शनात् अविषयेऽपि स्वतः स्फुरति आत्मनि विषयाध्यासो नासं-
भावित इत्यर्थः । न चरमः । बहिरर्थेषु विद्यमानयोरपि सामान्यवि-
शेषांशयोः अग्निपैङ्गल्यादिवत् धूमादावध्यासं प्रति अतन्त्रत्वात् स्वरू-
पमात्रेण स्फुरणं अध्यासविरोध्याकारेणास्फुरणं च अधिष्ठानस्याध्यासे
अपेक्ष्यते तदिहात्मनः स्वरूपतः स्फुरणेऽपि अनृतजडदुःखान्तवत्त्वा-

नात्मव्यावृत्ताकारेण वेदान्तजनितज्ञाने अध्यासविरोधिनि स्फुरणाभा-
वात् अध्यासोपपत्तेः न कश्चिद्दोष इति द्रष्टव्यम् ॥ ६१ ॥

ननु अध्यासज्ञानाकारपरिणामः किं आत्मनः, उतानात्मनः,
किंबोभयोः । नाद्यः । तस्य विकारित्वापत्तेः अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात् ।
न द्वितीयः । अचेतनस्य तदनुपपत्तेः । अतएव न तृतीय इत्यभि-
प्रेत्य शिष्यः पृच्छति—

किं भगवन्, देहात्मनोः इतरेतराध्यारोपणा देहा-
दिसंघातकृता अथवा आत्मकृतेति ॥ ६२ ॥

किं भगवन्निति ॥ ६२ ॥

शिष्याभिप्रायं श्रोतुकामो गुरुः कस्मिन् सति किं स्यात् इति
पृच्छति—

गुरुरुवाच—यदि देहादिसंघातकृता यदि वा आत्म-
कृता किं तत्र स्यात् ॥ ६३ ॥

यदीति । किं तत्र स्यात् तवेति शेषः ॥ ६३ ॥

स्वाभिप्रायं शिष्यः प्रकटयतीत्याह—

इत्युक्तः शिष्य आह—यद्यहं देहादिसंघातमात्रः ततो
ममाचेतनत्वात् परार्थत्वमिति न मत्कृता देहात्मनोः
इतरेतराध्यारोपणा । अथाहमात्मा परोऽन्यः संघातात्
चित्तिमत्त्वात् स्वार्थ इति मयैव चित्तिमता आत्मनि
अध्यारोपणा क्रियते सर्वानर्थबीजभूता ॥ ६४ ॥

इत्युक्त इति । अनात्मनः स्वरूपेणाध्यस्तत्वात् निःस्वभावस्य
तस्य अध्यासकर्तृत्वानुपपत्तेः आत्मैव तत्कर्तेति स्वयमूहमानः अहम-
वभासस्यात्मप्रत्ययत्वात् संघाते च तद्दर्शनात् स वा अहं अन्यो वा

अध्यासकर्ता इत्युभयत्र दोषमुपन्यस्यति—शिष्य आह—यद्यहमित्यादिना । आद्ये पक्षे अध्यासकर्तुरभावात् संसारदर्शनं न स्यादिति भावः । द्वितीये स्वयमेव स्वानर्थार्थं प्रवृत्तत्वात् अनिमोक्षत्वापत्तिरिति भावः ॥ ६४ ॥

चिन्मात्राश्रयविषयानाद्यनिर्वचनीयाऽविद्यावेशवशात् चिदात्मैव अविद्यापरिकल्पित अहंकारादिस्थूलशरीरान्तं आत्मत्वेनाभिमन्यमानो मिथ्यैवाध्यासकर्ता इति प्रसिद्धिमुपगतः । परमार्थतस्तु कूटस्थ एवात्मा । अविद्यानिवृत्त्या च संसारनिवृत्तिः, निद्रानिवृत्त्येव स्वप्ननिवृत्तिरिति नानुपपन्नं किञ्चित्—इत्यभिप्रेत्य शनैःशनैरुक्तार्थं शिष्यबुद्धिमारोहयति गुरुरित्याह—

इत्युक्तो गुरुरुवाच—अनर्थबीजभूतां चेत् मिथ्याध्यारोपणां जानीषे मा कार्षीस्तर्हि ॥ ६५ ॥

इत्युक्तो गुरुरित्यादिना । देहाद्यात्मभावनामनर्थार्थं चेत् अवगच्छसि किमिति तर्हि तां न मुञ्चसि—अनर्थबीजभूतामिति ॥ ६५ ॥

साक्षिणः कूटस्थत्वात् नानर्थसंबन्धः परमार्थतः इत्युक्ताभिप्रायं अनवबुध्यमानः शिष्यः प्राह—

नैव भगवन्, शक्नोमि न कर्तुम् । अन्येन केनचित् प्रयुक्तोऽहं न स्वतन्त्र इति ॥ ६६ ॥

नैव भगवन्निति । हे भगवन्, न कर्तुं नैव शक्नोमीत्यन्वयः । अनिच्छतोऽपि मे निवृत्त्यभावात् नाऽहं स्वतन्त्रः । अन्येन केनचित् प्रेर्यमाण एव इति मन्ये इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

यद्येवं मन्यसे तदा चितिमत्त्वात्स्वार्थ इति मयैव इत्यादिनोक्तं
मृषेति गुरुः स्वाभिप्रायं प्रकटयति—

न तर्हि अचितिमत्त्वात् स्वार्थः त्वम् । येन प्रयुक्तः
अस्वतन्त्रः प्रवर्तसे स चितिमान् स्वार्थः संघात एव
त्वम् ॥ ६७ ॥

न तर्हि अचितिमत्त्वादिति ॥ ६७ ॥

ननु कथमहं संघातः ज्ञातृत्वात् इति शिष्य आह—

यद्यचेतनोऽहं कथं सुखदुःखवेदनां भवदुक्तं च जा-
नामि ॥ ६८ ॥

यद्यचेतन इति । भवदुक्तमिति । संघात एव त्वं इत्यादी-
त्यर्थः ॥ ६८ ॥

मिथ्याध्यासप्रयुक्तकर्तृत्वाद्यवभासस्य देहेन्द्रियान्तःकरणगतचि-
दाभासाविविक्ततया तद्विशिष्टात्मविषयत्वात् तस्य च अविवेकविवे-
काभ्यां आत्मनः परतन्त्रत्वस्वतन्त्रत्वप्रतिभासगोचरत्वात् अविवेकनि-
राकरणेन अस्य स्वरूपप्रतिष्ठाबुद्धिः संपाद्या इत्यभिप्रेत्य आचार्यः
पृच्छतीत्याह—

गुरुरुवाच—किं सुखदुःखवेदनाया मदुक्ताच्चान्यस्त्वं,
किं वा अनन्य एवेति ॥ ६९ ॥

गुरुरुवाच किमित्यादिना ॥ ६९ ॥

शिष्यः पुनः स्वानुभवमनुस्मरन् उत्तरमाहेति दर्शयति—

शिष्य उवाच—नाहं तावदनन्यः । कस्मात् । यस्मा-
त्तदुभयं कर्मभूतं घटादिकमिव जानामि, यद्यनन्योऽहं

तेन तदुभयं न जानीयां, किंतु जानामि तस्मादन्यः ।
सुखदुःखवेदनाविक्रिया च स्वार्थैव प्राप्नोति त्वदुक्तं च
स्यात् । अनन्यत्वे न च तयोः स्वार्थता युक्ता । नहि
चन्दनकण्टककृते सुखदुःखे चन्दनकण्टकार्थे घटोपयोगो
वा घटार्थः । तस्मात् तद्विज्ञातुर्मम चन्दनादिकृतः अर्थः ।
अहं हि ततोऽन्यः समस्तमर्थं जानामि बुद्ध्यारूढम् ॥ ७० ॥

शिष्य इति । नाहं संघातानन्यः तद्द्रष्टृत्वात् । यो यद्द्रष्टा न स
तदनन्यः यथा घटद्रष्टेत्यर्थः । हेतोरप्रयोजकताशङ्कामनवकाशयति—
यदीति । तेन इति अनन्यत्वहेतुना इत्यर्थः । नहि स्वयं स्ववेद्यं
किमपि भवति । स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्, जडस्य च स्वप्रकाशतानुप-
पत्तेः । स्वान्यद्द्रष्टृविषयत्वाभावे तदसिद्धिप्रसङ्गात् तद्व्यवहारलोपः प्रस-
ज्येत इति भावः । उपनयनिगमने दर्शयति—किंतु जानामि
तस्मादन्य इति । अनन्यत्वे विषयत्वानुपपत्तिरूपं बाधकमभिधाय
शेष्यन्तराभावात् संघातस्य स्वशेषत्वापत्तिं बाधकान्तरमाह—सुख-
दुःखेति । विक्रिया कर्तृत्वादिलक्षणा इत्यर्थः । त्वदुक्तं चति ।
असत्त्वानित्यत्वादिपूर्वोक्तदोषश्च प्राप्नोतीत्यर्थः । भवतु स्वार्थता
इत्याशङ्क्य विषयस्य स्वार्थत्वाभावं दृष्टान्तेनोपपादयति—नच तयो-
रिति । सुखदुःखवेदनाविक्रिययोरित्यर्थः । द्रष्टुरात्मनो दृश्यादन्यत्वं
शेषित्वं च उपपादितमुपसंहरति—तस्मादिति । ज्ञातुर्ज्ञेयसंबन्धमाह
—बुद्ध्यारूढमिति ॥ ७० ॥

यद्येवं प्रतिबुद्धोऽसि वत्स, न तर्हि परप्रयुक्तता तव इति तत्त्व-
मवबोधयत्याचार्य इत्याह—

तं गुरुवाच— एवं तर्हि स्वार्थस्त्वं चितिमत्त्वान्न

परेण प्रयुज्यसे । नहि चितिमान् परतन्त्रः परेण प्रयु-
ज्यते—चितिमतश्चितिमदर्थत्वानुपपत्तेः समत्वात्प्रदीपप्र-
काशयोरिव । नापि अचितिमदर्थत्वं चितिमतो भवति,
अचितिमतोऽचितिमत्त्वादेव स्वार्थसंबन्धानुपपत्तेः । ना-
पि अचितिमतोः अन्योन्यार्थत्वं दृष्टम् । नहि काष्ठकुड्ये
अन्योन्यार्थं कुर्वाते ॥ ७१ ॥

तं गुरुरिति । ननु चितिमतोऽपि परार्थत्वं किं न स्यात् इति-
चेत् तत्र वक्तव्यं किं चितिमान् चितिमदर्थः, किंवा अचितिमदर्थ
इति । आद्येऽपि स्वयमेव स्वार्थः चितिमदन्तरार्थो वा । नाद्यः ।
एकस्मिन्नुपकार्योपकारकभावलक्षणस्य अर्थार्थित्वस्यायोगादित्यभिप्रेत्य
द्वितीयं प्रत्याह—चितिमत इति । समत्वात् अन्योन्यस्मिन्नन्यो-
न्यकृतातिशयाभावादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—नापीति । अचि-
तिमदर्थत्वं चितिमत इति पूर्वेणानुषङ्गः । अचितिमतो जडस्य
जडत्वादेव शेषित्वानुपपत्तेः इति हेत्वर्थः । मामूच्छिं अचेतनानामपि
चितिमच्छेषत्वं तेषां अन्योन्यार्थता किमिति न भवेत् । अतः
किमिति चेतनोऽध्यक्षः स्वार्थः कल्प्यते इत्याशङ्क्य दृष्टविरोधान्मैव-
मित्याह—नाप्यचितिमतोरिति ॥ ७१ ॥

यदुक्तं चितिमतः चितिमदर्थत्वं नोपपद्यते समत्वात् इति तत्र
व्यभिचारं शङ्कते—

ननु चितिमत्त्वे समेऽपि भृत्यस्वामिनोः अन्योन्यार्थ-
त्वं दृष्टम् ॥ ७२ ॥

नन्विति ॥ ७२ ॥

स्वामिचैतन्यस्य भृत्यदेह एव अचेतनभागः उपकरोति न तन्नि-
रपेक्षं चिन्मात्रम्, तथा भृत्यचैतन्यस्य स्वामिदेह एव अचेतनभागः
उपकरोति न चैतन्यमात्रं तथा दर्शनादित्यभिप्रेत्य परिहरति—

नैवं—अग्रेरुष्णप्रकाशवत् तव चितिमत्त्वस्य विवक्षि-
तत्वात् प्रदर्शितश्च दृष्टान्तः प्रदीपप्रकाशयोरिति । तत्रै-
वं सति स्वबुद्ध्यारूढमेव सर्वमुपलभसे अग्न्युष्णप्रकाशतु-
ल्येन कूटस्थनित्यचैतन्यस्वरूपेण यदि चैवमात्मनः सर्व-
दा निर्विशेषत्वमुपगच्छसि । किमित्यूचिवान् सुषुप्ते
विश्रम्य विश्रम्य जाग्रत्स्वप्नयोः दुःखमनुभवामि इति ।
किं अयमेव मम स्वभावः किंवा नैमित्तिकः इति च ।
किमसौ व्यामोहोपगतः किंवा नेति ॥ ७३ ॥

नैवमग्रेरिति । तदेवं चेतनस्य अनन्यशेषत्वे सति तस्य ईश्वरा-
त्मत्वं सिद्धं, अतः कूटस्थ एवात्मा इत्युपसंहरति—तत्रैवं सतीति ।
चित्तिमतः स्वार्थत्वमेव न परार्थत्वं सर्वदेति स्थिते सतीत्यर्थः । स्वबु-
द्ध्यारूढमेव स्वाध्यस्तान्तःकरणवृत्तिकवलितमेव सर्वमध्यात्माधिभूता-
दिलक्षणं संघातं अग्न्युष्णप्रकाशवत्स्वरूपभूतेन निर्विकारनित्यचैतन्य-
स्वभावेनोपलभसे त्वम् । अतो नित्यमुक्तोऽहं न संघाताध्यासकर्ता न
मे संघातधर्मसंसर्गोऽस्तीति स्वस्थो भवेत्यर्थः । ओमिति चेत् स
ब्रूयात् तदा गुरुरेवं ब्रूयात् इत्याह—यदि चैवमिति । मोहादेवा-
ब्रुवम् इति चेत् स ब्रूयात् तदा तं प्रति गुरुणा वक्तव्यमाह—किम-
साविति ॥ ७३ ॥

ननु संसार्यहं दुःखी नित्यमुक्तस्वभावादीश्वरादन्यः इत्यादिभ्रम-
उ. सा. ५

हेतुः यो व्यामोहः अविवेकलक्षण आसीन्मम स इदानीं त्वत्प्रसादा-
निवृत्तः परंतु कूटस्थचैतन्यस्वरूपेणेति यदिदं मम कूटस्थत्वमूचिवान्
भवान् तत्र प्रतिविषयज्ञानकर्तृत्वात् कथं कूटस्थचित्त्वभावता इति
संशयो जायते इति शिष्यप्रश्नमुत्थापयति—

इत्युक्तः शिष्य आह—भगवन्, अपगतः त्वत्प्रसादात्
व्यामोहः किंतु मम कूटस्थतायां संशयः कथम्—शब्दादी-
नां स्वतः सिद्धिर्नास्ति अचेतनत्वात्—शब्दाद्याकारप्रत्ययो-
त्पत्तेस्तु तेषाम् प्रत्ययानामितरेतरव्यावृत्तविशेषणानां
नीलपीताद्याकारवतां स्वतःसिद्ध्यसंभवात् । तस्माद्वाह्या-
कारनिमित्तत्वं गम्यते इति वाह्याकारवत् शब्दाद्याका-
रत्वसिद्धिः । तथा प्रत्ययानामपि अहंप्रत्ययालम्बनवस्तु-
भेदानां संहतत्वात् अचैतन्योपपत्तेः स्वार्थत्वासंभवात्—
स्वरूपव्यतिरिक्तग्राहकग्राह्यत्वेन सिद्धिः शब्दादिवदेव
असंहतत्वे सति चैतन्यात्मकत्वात् स्वार्थोऽपि अहंप्रत्य-
यानां नीलपीताद्याकाराणामुपलब्धेति विक्रियावानेव
कूटस्थ इति संशयः ॥ ७४ ॥

इत्युक्तः शिष्य आह—इति । अपगतः व्यामोह इत्यनुषङ्गः ।
संघातसाक्षिणो निर्विकारस्योक्तत्वात् कथं संशय इति तन्मुखेनैव
कूटस्थतामवगमयितुं गुरुः पृच्छति—कथमिति । संशयः इत्यनुषङ्गः ।
शिष्यः स्वविदितमर्थं निवेदयति—शब्दादीनामिति । शब्दस्पर्श-
रूपरसगन्धास्तावद्विषयाः प्रसिद्धाः तेषामचिद्रूपत्वात् स्वतःस्फुरणं
नास्ति इत्यविवादम् । कथं तर्हि तेषां स्फूर्तिरिति, तदाह—शब्दा-

द्याकारप्रत्ययोत्पत्तेस्तु तेषामिति । सिद्धिरित्यनुषङ्गः । शब्दाद्या-
काराणां प्रत्ययरूपत्वात् न स्वातिरिक्तग्राह्यता इति विज्ञानवादिमत-
माशङ्क्य मध्ये निराकरोति—प्रत्ययानामित्यारभ्य सिद्धिरित्य-
न्तेन । इतरेतरं व्यावृत्तानि विशेषणानि शब्दाद्याकाररूपाणि येषां
ते तथा । हेतुगर्भं विशेषणम् । प्रकाशस्वरूपत्वात् प्रत्ययानां स्वतएव
परोपरागं विना नीलपीताद्याकारवत्ताया असंभवात् न प्रत्ययमात्रस्व-
रूपाः शब्दादयः इत्यध्याहारेण योजना । परमतनिराकरणमुपसंह-
रति—तस्मादिति । बाह्याकारः शब्दादिरूपः इन्द्रियसंसृष्टः अर्थः
निमित्तं येषां प्रत्ययानां तेषां भावो बाह्याकारनिमित्तत्वमिति विग्रहः ।
इत्यतः तस्मात् प्रत्ययानां बाह्याकारवच्छब्दाद्याकारत्वसिद्धिरित्यन्व-
यः । चैतन्यात्पृथगाकारवन्तो ये शब्दादयः परागव्यवहारयोग्याः
तत्कृताकारत्वासिद्धिः प्रत्ययानां न स्वत इत्यर्थः । एवं शब्दादीनां वि-
षयाणां स्वव्यतिरिक्तप्रत्ययग्राह्यत्वं चेत् अध्यवस्यसि तर्हि प्रत्ययस्वरूपे
विशेषाभावसिद्धेः कूटस्थत्वसिद्धिः इत्याशङ्क्याह—तथा प्रत्ययाना-
मपीति । नहि विषयसंसृष्टतया भासमाना विषयाकाराः प्रत्ययाः
स्वप्रकाशचैतन्यरूपा भवन्ति आगमापायित्वात्, किंतु अन्यसाक्षिका
एव इत्यभिप्रेत्य तत्स्वरूपविशेष विशेषणनिर्देशेन कथयति—अहं-
प्रत्ययालम्बनवस्तुभेदानामिति । अहंप्रत्ययालम्बनं वस्तु अन्तः-
करणं (अहंकरणं) तस्य भेदा वृत्तिविशेषाः तदात्मकानामित्यर्थः ।
विमताः प्रत्ययाः न चित्त्वभावाः संहतत्वात् । संहतत्वं च आगमापायि-
त्वात् शब्दादिवत् देहादिवद्वा । तथा विमताः स्वातिरिक्तग्राहकग्राह्याः
अचेतनत्वात् शब्दादिवदेव इत्यर्थः । अतः परमाकाराभावात् प्रत्य-
योत्पत्त्याद्यवस्थासाक्षी निर्विशेषश्चिदात्मा सिद्ध एवेति कुतः कूटस्थ-

तायां संशयः इति न वाच्यं इत्याह—असंहतत्वे सतीति । यद्यपि संघातादन्यः चैतन्यस्वभावः स्वार्थ एवात्मा, तथापि अहंप्रत्ययानां अन्तःकरणवृत्तीनां नीलपीताद्याकाराणामुपलब्धा उपलब्धिकर्ता इति हेतोः विक्रियावानेवायं कथं कूटस्थ इति मे संशय इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

एवं चेत् दृश्यदर्शने विवेचयसि न तर्हि ते संशयावकाश इति परिहरति—

तं गुरुरुवाच—न युक्तस्तव संशयः । यतस्तेषां प्रत्ययानां नियमेन अशेषतः उपलब्धेरेव अपरिणामित्वात् कूटस्थ-त्वसिद्धौ निश्चयहेतुमेव अशेषचित्तप्रचारोपलब्धिं संश-यहेतुमात्थ । यदि हि तव परिणामित्वं स्यात् अशेषस्व-विषयचित्तप्रचारोपलब्धिर्न स्यात् चित्तस्यैव स्वविषये । यथा चेन्द्रियाणां स्वविषयेषु । नच तथाऽत्मनस्तव स्वविषयैकदेशोपलब्धिः । अतः कूटस्थतैव तवेति ॥ ७५ ॥

तं गुरुरुवाचेत्यादिना । संशयायोगे हेतुमाह—यत इति । यः परिणामी चित्तादिः तस्य क्रमेण स्वविषयग्राहकत्वं च दृष्टं तद्व्यापकमात्मनः प्रत्ययसाक्षिणः सकाशाद्व्यावर्तमानं स्वव्याप्यं परिणामित्वमपि तस्य व्यावर्तयति इति व्यापकविरुद्धोपलब्धेः कूटस्थ-त्वसिद्धौ निश्चय एव युक्तो न संशय इत्यर्थः । उक्तमेवार्थं व्यतिरेकव्याप्तिं विवृण्वन्नुपपादयति—यदि हीति ॥ ७५ ॥

इदानीं प्रकृतिप्रत्ययार्थपर्यालोचनया उपलब्धा कूटस्थ इति विरुद्धमिति शिष्यः शङ्कामुद्भावयति—

तत्राह—उपलब्धिर्नाम धात्वर्थो विक्रियैव उपलब्धुः कूटस्थात्मता चेति विरुद्धम् ॥ ७६ ॥

तत्राहेति । उपोपसर्गस्य लभतेः धातोः कर्तरि तृचो विधानात्
धात्वर्थस्य च क्रियात्वात् क्रियायाश्चोत्पत्तिविनाशवत्त्वात् तत्कर्तरि
कथं क्रियाराहित्यमित्यर्थः ॥ ७६ ॥

क्रियैष प्रकृतिभूतधात्वर्थः । कर्तैव च प्रत्ययार्थः सर्वत्र मुख्य इति
नास्ति नियमः । 'गडि वदनैकदेशे' सविता प्रकाशते सविता प्रका-
शयतीत्यत्र व्यभिचारात् इत्यभिप्रेत्य प्रकृते धात्वर्थतत्कर्तृवचनस्योप-
लब्धशब्दस्य गौणार्थत्वमेव युक्तम् इत्याह गुरुः—

न धात्वर्थविक्रियायां उपलब्ध्युपचारात् । यो हि
बौद्धः प्रत्ययः स धात्वर्थो विक्रियात्मकः आत्मनः उप-
लब्ध्याभासफलावसान इति उपलब्धिशब्देन उपचर्यते ।
यथा छिदिक्रिया द्वैधीभावफलावसानेति धात्वर्थेन उप-
चर्यते तद्वत् ॥ ७७ ॥

न धात्वर्थेति । संग्रहं विवृणोति—यो हि बौद्ध इति । बौद्धो
बुद्धिपरिणामः प्रतिविषयं अयति गच्छतीति प्रत्ययः । ननु बुद्धेर-
न्तःकरणस्य द्रव्यत्वात् तत्परिणामस्य च मृत्परिणामघटादिवत्
द्रव्यत्वोपपत्तेः कथं क्रियात्वमिति तत्राह—स धात्वर्थो विक्रिया-
त्मक इति । विशिष्टक्रियात्मक इत्यर्थः । नहि मृदादिवत् स्वाका-
रतिरोधानेन अन्तःकरणपरिणाम इष्यते किंतु जल्लकावत् आलोक-
वद्वा संकोचविकासरूपेण । तादृशस्तु परिणामः परिणामिचेष्टारूपत्वात्
तत्क्रियेति वक्तुं युक्तेत्यभिप्रायः । तस्याः क्रियाया उपलब्धिशब्दो-
पचारे निमित्तमाह—आत्मन इति । आत्मनः स्वरूपभूता या उप-
लब्धिः—'सत्यं ज्ञानं' 'विज्ञानघन एव' इत्यादिश्रुतिसिद्धा तस्या
आभासो बह्विव्याप्तायः पिण्डस्य बह्व्याकारत्ववत् चिदात्मव्याप्ततया

चिच्छायापत्तिः तदेव फलं तदवसानः तत्पर्यन्त इतिकृत्वा उपलब्धि-
शब्देनोपचर्यते इत्यर्थः । तत्रानुकूलं दृष्टान्तमाह—यथेति । अयं
भावः—अर्थप्रकाशो हि उपलब्धिशब्दार्थः प्रसिद्धः स नार्थधर्मः
अर्थानां जडत्वात् इत्युक्तम् । नाप्यन्तःकरणधर्मः तस्यापि करण-
त्वात्, चैतन्यप्रकाशाश्रयत्वायोगात्, तथापि स्वयंप्रकाशमाननित्यचै-
तन्यात्मनि अव्यवधानेन अहंतयैवाध्यासात् स्वसत्तायां प्रकाशाव्य-
तिरेकात् आत्मचैतन्यव्याप्ताः तत्तदर्थकारा वृत्तीः कुर्वन् अन्तःकरणं
उपलब्धा कर्ता प्रमाता भोक्ता इति च प्रमातृत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व-अ-
नुभवितृत्वव्यपदेशास्पदं भवति यथा अयःपिण्डो दहति प्रकाशय-
तीति तद्वत् आत्मा आकाशवदविक्रियत्वात्कूटस्थोऽपि सन् तादृगन्तः-
करणगतस्वाभासाविवेकात्तद्धर्मैः तदवस्थाभिश्च मिथ्यैव व्यपदिश्यते
चतुष्कोणो वर्तुलः कृशः स्थूलो जातो नष्टः अग्निरिति यथा अयः-
पिण्डगताभासाविवेकात् अग्निः व्यपदिश्यते तद्वत् । तस्मात् अन्तः-
करणस्य विकारिणः कर्तृत्वेऽपि उपलब्धेः क्रियमाणत्वाभावात् उपल-
ब्धिस्वरूपस्यात्मनः सिद्धं कूटस्थत्वमिति ॥ ७७ ॥

तत्रोक्तमर्थं विशदीकर्तुं दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकाऽननुरूपत्वं शङ्क-
यति—

इत्युक्तः शिष्य आह—ननु भगवन्, मम कूटस्थत्व-
प्रतिपादनं प्रति असमर्थो दृष्टान्तः कथम्, छिदिः छेद्य-
विक्रियावसाना उपचर्यते—यथा धात्वर्थत्वेन तथा उप-
लब्धिशब्दोऽपचरितोऽपि धात्वर्थो बौद्धप्रत्ययः आत्मनः
उपलब्धिविक्रियावसानश्चेत् नात्मनः कूटस्थतां प्रति-
पादयितुं समर्थः ॥ ७८ ॥

इत्युक्तः शिष्य आह नन्विति । उभयत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः औपचारिकत्वस्योक्तत्वात् कथं दृष्टान्तासामर्थ्यमिति गुरुराह—कथमिति । उपचरितत्वेऽपि उपलब्धुः विक्रिया दुर्वारा । यतः छिदिक्रियासाध्यं द्वैधीभावाख्यं फलं विक्रिया, एवं उपलब्धिफलस्यापि फलत्वाविशेषात् साध्यतया विक्रियात्वोपपत्तेः कथं उपलब्धा कूटस्थः स्यात् इति शिष्यो दृष्टान्तासामर्थ्यं उपपादयति—छिदिः छेद्येत्यादिना । छिदिक्रियायाः छेद्यविक्रियावसानत्ववत् बौद्धो धात्वर्थः उपलब्धिशब्दोपचरितोऽपि आत्मोपलब्धिविक्रियावसानश्चेदिति योजना । छिदिक्रियायाः छेत्तकृतद्वैधीभावपर्यन्तत्ववत् आत्मकृतोपलब्धिविकारपर्यन्तः उपलब्धिधात्वर्थश्चेदित्यर्थः ॥ ७८ ॥

उपलब्धेः स्वरूपेणैव फलत्वं विवक्षित्वा दृष्टान्ताननुगुणत्वं अध्यवस्यसि, किंवा उपाधिवशात् इति विकल्प्य आद्यं दूषयति—

गुरुरुवाच—सत्यमेवं स्यात् यदि उपलब्ध्युपलब्धोः विशेषः । नित्योपलब्धिमात्र एव हि उपलब्धा नतु तार्किकसमय इव अन्या उपलब्धिः अन्यः उपलब्धाच ॥ ७९ ॥

सत्यमेवमिति । विशेषो भेदः । नित्यशब्देन बौद्धमताद्यावृत्तिः । मात्रपदेन भेदाभेदमतात् 'प्रज्ञानघन एव', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं हेतुमाह—हीति । एवकारव्यावर्त्यमाह—नतु तार्किकेति ॥ ७९ ॥

यद्येवं आत्मतत्त्वं कथं तर्हि धात्वर्थफलवत्त्ववचनमिति शिष्यः शङ्कते—

ननु उपलब्धिफलावसानो धात्वर्थः कथमिति ॥ ८० ॥

नन्विति—॥ ८० ॥

उपाधिवशात्फलत्वोपचारोपलब्धेः न स्वरूपतः इत्युक्तं सारयन्
पक्षान्तरमविरुद्धमित्याह—

उच्यते—शृणु—उपलब्ध्याभासफलावसान इत्युक्तं किं
न श्रुतं तत् त्वया, ननु आत्मा विक्रियोत्पादनावसान
इति मयोक्तम् ॥ ८१ ॥

शृण्विति । अन्तःकरणवृत्तीनां आविर्भावतिरोभावधर्मकत्वात्
तद्विशिष्टतया स्फुरणं अङ्गीकृत्य विषयस्थचैतन्याभेदेन प्रकाशमान-
वृत्तितत्स्थाभासाश्रयतया भासमानात्मा प्रमाता इत्युच्यते ।
कर्मेन्द्रियाणि अधिष्ठाय क्रियावत्प्राणप्रधानान्तःकरणलिङ्गगताभासा-
विवेकात्कर्तृत्युच्यते । शुभाशुभकर्मोपस्थापितान्तःकरणपरिणामवि-
शेषं तदविवेकात् स्वगतमिव पश्यन्नात्मा भोक्तेत्युच्यते ।
एतां सर्वामेव चित्तविलासावस्थां स्वरूपचैतन्यानुगममात्रेण
साक्षादवभासयन्निव भासमानः अलुप्तप्रकाशः असंदिग्धः अवि-
पर्यस्तः अविषयः साक्षी उपलब्धा ज्ञाता इति च व्यपदिश्यते ।
वृत्तिविनाशात् तद्गतचिदाभासस्यापि विलयात् तत्संस्कारसंभवे सति
समयान्तरे पूर्वावगतविषयाकारस्मृतिवृत्त्युदये तद्गताऽभासद्वारा स
एव स्मर्तेति व्यपदिश्यते । स एव तु चिदात्मा समस्तकार्यकारणप्र-
पञ्चोपलक्षितः तदनुवृत्तसत्ताऽभेदेन सर्वाधिष्ठानमित्युच्यते । कारणो-
पाध्यविवेकेन अलुप्तज्ञानशक्तितया च अन्तर्याम्यादिशब्दवाच्योऽपि
भवति । तस्मात् केनचित् उपाधिना कचित् कचित् तथा तथा

व्यवहारास्पदत्वेन अविद्यावशात् भासमानोऽप्यात्मा स्वरूपतो निर्वि-
कारो निर्धर्मकः असङ्गः कूटस्थ एवेति ॥ ८१ ॥

एतत्सर्वमभिप्रेत्य उक्तमर्थं प्रश्नमुत्थाप्य उपसंहरति—

शिष्य उवाच—कथं तर्हि कूटस्थे मयि अशेषस्वविष-
यचित्तप्रचारोपलब्धृत्वमित्यात्थ ॥ ८२ ॥

तं गुरुरुवाच—सत्यमवोचं, तेनैव कूटस्थतामब्रुवं
तव ॥ ८३ ॥

शिष्य उवाच । कथं तर्हीत्यारभ्य तवेत्यन्तेन । तेनैव अशे-
षस्वविषयचित्तप्रचारोपलब्धृत्वेनेत्यर्थः । अतः कुतस्तत्र तवानाश्वासो
जायत इत्यभिप्रायः ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

आत्मनो नित्यनिवृत्ताशेषस्वगतविशेषतया कूटस्थत्वे अवबोधिते
अवबुद्धस्वरूपः शिष्यः स्वभ्रान्तिबीजमपश्यन् पृच्छति—

यद्येवं भगवन्, कूटस्थनित्योपलब्धिस्वरूपे मयि
शब्दाद्याकारबौद्धप्रत्ययेषु च मत्स्वरूपोपलब्ध्याभास-
फलावसानवत्सु उत्पद्यमानेषु कस्त्वपराधो मम ॥ ८४ ॥

यद्येवमिति । अथवा—बौद्धप्रत्ययाश्चेत् उपलब्ध्याभासफलाव-
सानाः जायन्ते तदा तानात्मनि नित्यं पश्यतो मम कोऽपराध इत्या-
क्षिपति—यद्येवमिति ॥ ८४ ॥

प्रश्नस्योत्तरमाह—

सत्यम् नास्त्यपराधः किंतु अविद्यामात्रस्तु अपराध
इति प्रागेवावोचम् ॥ ८५ ॥

सत्यं नास्त्यपराध इति । कथं तर्हि किं न श्रुतं त्वया—इति

मामात्मेति शङ्कते—किंलिति । जिज्ञासोः तव प्रेक्षावत् उक्तार्थान-
वधानं न आगन्तुकदोषनिमित्तकं संभाव्यते इत्यभिप्रेत्य मयोक्तमिति
परिहरति—अविद्येति । यद्वा आक्षेपं परिहरति—सत्यमिति ।
नास्त्यपराधस्तव स्वानुभवाप्रच्छादकत्वात् । कथं तर्हि त्वयोक्तं ममाना-
श्वासो जायते इति पृच्छति—किंलिति । अन्योस्तु अपराध इत्यु-
त्तरमाह—अविद्येति । तदेवं यथावदात्मनः स्वरूपानवभासावि-
द्यानिबन्धन एव संसारित्वं अधिकृतत्वं इत्यादि अतद्धर्मावभासः न
परमार्थोऽस्तीति उपपत्तितोऽवगमितमात्मनः कूटस्थनित्यत्वम् ॥८९॥

इदानीं अवस्थात्रयसाक्षितया अवस्थाधर्मास्पर्शित्वेन पुनः कूट-
स्थतां प्रतिपादयितुमाक्षेपमुत्थापयति—

यदि भगवन्, सुषुप्त इव मम विक्रिया नास्ति कथं
स्वप्नजागरिते ॥ ८६ ॥

यदि भगवन्निति । स्वप्नजागरिते ममेति शेषः ॥ ८६ ॥
त्वच्चैतन्यप्रकाश्यत्वात् न तव स्वभावभूते ते अवस्थे इति परि-
हरति—

तं गुरुरुवाच—किंत्वनुभूयेते त्वया सततम् ॥ ८७ ॥
तं गुरुरुवाचेति—सततमिति । यदा ते भवतः तदा नानुभू-
यमाने भवत इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

अनुभूयमानत्वमङ्गीकृत्य सततानुभवशब्दार्थमजानानः शिष्य
आह—

बाढम् अनुभवामि, किंतु विच्छिद्यविच्छिद्य नतु
सततम् ॥ ८८ ॥

बाढमिति ॥ ८८ ॥

तं गुरुराह—

तं गुरुरुवाच—तर्हि आगन्तुके त्वेते न तवात्मभूते,
यदि तवात्मभूते चैतन्यस्वरूपवत् स्वतःसिद्धे संतते एव
स्याताम् । किंच स्वप्नजागरिते न तव आत्मभूते व्यभि-
चारित्वात् वस्त्रादिवत् । नहि यस्य यत्स्वरूपं तत्
तद्व्यभिचारि दृष्टम् । स्वप्नजागरिते तु चैतन्यमात्रत्वा-
द्व्यभिचरतः । सुषुप्ते चेत् स्वरूपं व्यभिचरेत् तन्नष्टं
नास्तीति वा बाध्यमेव स्यात् आगन्तुकानां अतद्धर्माणां
उभयात्मकत्वदर्शनात् यथा धनवस्त्रादीनां नाशो दृष्टः
स्वप्नभ्रान्तिलब्धानां तु अभावो दृष्टः ॥ ८९ ॥

आगन्तुके त्वेते इति । सुषुप्तौ आत्मस्वरूपे भासमानेऽपि तयोः
अनवभासात् न आत्मनः स्वरूपभूते ते अवस्थे । अतो विच्छिद्य-
विच्छिद्यानुभूयेते त्वया ते इत्यर्थः । विमते अनात्मभूते व्यभिचारित्वात्
वस्त्रादिवत् इत्युक्त्वा व्यतिरेकेण एतदेव द्रढयति—यदीत्यादिना ।
चैतन्यमात्रत्वादिति । चित्स्वभावादित्यर्थः । यत्र यत् अनुभवगो-
चरः तत्रैव चेत् तत् नानुभूयते तदा तस्य ध्वंसो बाधो वा स्यात् ।
उभयथापि तस्य न अधिष्ठानधर्मत्वं इति सदृष्टान्तमुपपादयति—सुषुप्ते
चेदित्यादिना । नाशो ध्वंसः अभावो बाधः ॥ ८९ ॥

तत्र शिष्योऽतिप्रसङ्गं शङ्कते—

नन्वेवं भगवन्, चैतन्यस्वरूपमपि आगन्तुकं प्राप्तं ।

स्वप्नजागरितयोरिव सुषुप्ते अनुपलब्धेः । अचैतन्यस्वरूपो
वा स्यामहम् ॥ ९० ॥

नन्वेवमिति । दृष्टि-श्रुति-मति-विज्ञातिलक्षणे हि स्वप्नजागरिते
दृष्ट्यादिमत् चैतन्यमेव । अतो यदि सुषुप्तौ स्वप्नजागरिते नोपलभ्ये-
ते इति तत्र ते न स्तः, तदा चैतन्यमेव सुषुप्तौ नास्तीत्यात्मा आग-
न्तुकचैतन्यो वा स्यात् अचैतन्यस्वरूपो वा गत्यन्तराभावादित्यर्थः ९०

गुरुः परिहरति—

न पश्य तदनुपपत्तेः । चैतन्यस्वरूपं चेत् आगन्तुकं
पश्यसि, पश्य । नैतद्वर्षशतेनापि उपपत्त्या कलयितुं
शक्नुमो वयम्, अन्यो वाऽचैतन्योऽपि संहतत्वात् पारार्थ्यं
अनेकत्वं नाशित्वं च न केनचित् उपपत्त्या वारयितुं
शक्यम् । अस्वार्थस्य स्वतःसिद्धभावादित्यवोचाम ।
चैतन्यस्वरूपस्य तु आत्मनः स्वतःसिद्धेः अन्यानपेक्षत्वं
न केनचित् वारयितुं शक्यम्, अव्यभिचारात् ॥ ९१ ॥

नेति । नैवं । नैवं वक्तुमुचितमित्यर्थः । कथं इति चेत् तत्राह—
पश्येति । पर्यालोचनयेत्यर्थः । वस्तुस्वभावे आलोच्यमाने चैतन्यस्य
आगन्तुकत्वानुपपत्तेः नैवं वक्तुमुचितं इति वाक्यार्थः । ननु सुषुप्ते
दृष्ट्यादिरूपस्य चैतन्यस्यादर्शनात् जाग्रदादौ दर्शनात् आगन्तुकमेव
चैतन्यं पर्यालोचयामि इति चेत् तत्र वक्तव्यं, किं निरुपाधिकचित्स्व-
रूपमेवागन्तुकं पश्यसि, किंवा नयनादिद्वारकबुद्धिवृत्त्युपहितं, इति
विकल्प्य आद्यं प्रत्याह—चैतन्यस्वरूपे चेदिति । अलौकिकप्रज्ञ-
स्त्वं चेत् चैतन्यस्वरूपमागन्तुकं पश्यसि तर्हि पश्य, वयं तु न्यायप्र-
माणकुशला अपि तच्चैतन्यस्वरूपमागन्तुकं द्रष्टुं घटयितुं वा न वर्ष-

शतेनापि शक्तुमः । अन्यो वा कश्चित् अचैतन्योऽपि मूढोऽपि न शक्तुयादित्यर्थः । अयं भावः—चैतन्यस्य आगन्तुकत्वं चैतन्येन गृह्यते किंवा अचैतन्येन । नाद्यः । स्वप्राहृत्ये स्ववृत्तिविरोधात् । नह्यङ्गुल्य-
ग्रेण तदेव स्पृश्यते, असिधारया वा असिधारा छिद्यते, नापि अन्य-
चैतन्येन अन्यचैतन्यस्यागन्तुकत्वं ग्राह्यं अन्यत्वस्य अद्याप्यसिद्धेः ।
न द्वितीयः । जडस्य चिदधीनप्रकाशतया चित्प्रकाशत्वायोगात् ।
अतः चैतन्यं नागन्तुकमिति । श्रुतिश्च भवति—‘यद्वैतन्न पश्यति
पश्यन् वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशि-
त्वात् नतु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्’ एवमाद्यं कल्पं
अनुपपत्त्या निराकृत्य द्वितीयं अचैतन्यापादनेन निराकरोति—सं-
हतत्वादिति । नयनादिद्वारकबुद्धिवृत्त्युपाधिप्रस्तस्य तु संहतत्वात्प-
रार्थत्वादिकं पूर्वमेवोपपादितमिति नेदानीमुपपत्तिर्वक्तव्या इत्याह—
इत्यवोचामेति । अत्रापि श्रुतिर्भवति—‘न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः
श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजा-
नीयाः’ इत्याद्या । अस्मिस्तु श्रुतिवाक्ये षष्ठ्यन्तशब्दवाच्यदृष्ट्यादेः
अन्यद्रष्टृव्याप्यतया अचैतन्यस्वभावत्वोक्तेः तदन्यो दृष्ट्यादिस्वरूप-
प्रकाशकत्वेन द्रष्टादिशब्दनिर्दिष्टः साक्षी नित्यचैतन्यस्वभावः सिद्ध
इति उपसंहरति—चैतन्यस्वरूपस्य त्विति ॥ ९१ ॥

उक्तमेवार्थं युक्त्यन्तरेणोपपादयितुं शङ्कामुद्भावयति—

ननु व्यभिचारो दर्शितो मया सुषुप्ते न पश्यामी-
ति ॥ ९२ ॥

नन्विति ॥ ९२ ॥

उत्तरं संग्रहेणाह—

न व्याहृतत्वात् । कथं व्याघातः पश्यतस्तव न पश्यामि इति व्याहृतं वचनम् । नहि कदाचित् भगवन्, सुषुप्ते मया चैतन्यं अन्यद्वा किञ्चित् दृष्टम् । पश्यन् तर्हि सुषुप्ते त्वम् यस्मात् दृष्टमेव प्रतिषेधसि न दृष्टिम् । या तव दृष्टिः तत् चैतन्यमिति मयोक्तम् । यया त्वं विद्यमानया न किञ्चित् दृष्टमिति प्रतिषेधसि सा दृष्टिः त्वचैतन्यम् । तर्हि सर्वत्र अव्यभिचारात् कूटस्थनित्यत्वं सिद्धं स्वत एव न प्रमाणापेक्षम् । स्वतःसिद्धस्य हि प्रमातुः अन्यस्य प्रमेयस्य परिच्छित्तिं प्रति प्रमाणापेक्षा । या तु अन्या नित्यापरिच्छित्तिः अपेक्ष्यते अन्यस्य अपरिच्छित्तिरूपस्य परिच्छेदाय सा हि नित्यैव कूटस्था स्वयं-ज्योतिःस्वभावा, आत्मनि प्रमाणत्वे प्रमातृत्वे वा न तां प्रति प्रमाणापेक्षा, तत्स्वभावत्वात् । यथा प्रकाशनं उष्णत्वं वा लोहोदकादिषु परतः अपेक्षते अग्न्यादित्यादिभ्यः अतत्स्वभावत्वात् न अग्न्यादित्यादीनां तदपेक्षा सर्वदा तत्स्वभावत्वात् ॥ ९३ ॥

न व्याहृतत्वादिति । व्याहृतत्वमेव प्रश्नपूर्वकं विवृणोति— कथमित्यादिना । नहि कदाचिदिति पुनः शिष्यप्रश्नः । पश्यं-स्तर्हीति गुरोरुक्तिः । पश्यन् द्रष्टा दृष्टिमानेव त्वं सुषुप्त इत्यर्थः । यस्मादित्यादिः । तदुपपादनपरो ग्रन्थः स्पष्टार्थः । सुषुप्ते मया किञ्चिन्न दृष्टं इति उत्थितस्य परामर्शानुपपत्त्या सौषुप्तानुभवस्यावश्यंभावात्,

तदा करणोपसंहारात् आगन्तुकानुभवासंभवात् स्वरूपचैतन्यमनागन्तु-
कं कूटस्थात्मस्वरूपं सिद्धमित्युपसंहरति—ययेत्यादिना । चैतन्यस्य
स्वतःसिद्धमुपपादयति—स्वतःसिद्धस्य हि प्रमातुरिति । हिशब्दो
लोकानुभवप्रसिद्धिद्योतनार्थः । स्वतःसिद्धः प्रमाणनिरपेक्षत्वेनैव
सिद्धः । प्रमाणप्रवृत्तेः प्रागेव प्रकाशमान इति यावत् एवंविधस्य
प्रमातुः यदन्यत्प्रमेयं दृश्यं तस्य परिच्छित्तिं स्फूर्तिं प्रति प्रमाणापेक्षा
न प्रमातृस्वरूपपरिच्छित्तिं प्रति इत्यर्थः । या तु अन्यस्य
परिच्छित्तिरूपस्याचेतनस्य परिच्छेदाय अवभासनाय नित्या स्वतः-
सिद्धा च अन्या परिच्छित्तिः संविदपेक्ष्यते सा हि कूटस्थैव । यतो
नित्या स्वयंज्योतिःस्वभावाचेति योजना । तां प्रति स्वरूपकूटस्थनि-
त्यसंविदं प्रति आत्मनि संविद्रूपे विषये प्रमाणत्वे तत्सत्तानिश्चयफ-
लव्यापारात्मत्वे प्रमातृत्वे वा तादृग्व्यापाराश्रयत्वे वा न प्रमाणापेक्षा
प्रमात्रपेक्षा वाऽस्तीत्यर्थः । अयंभावः—अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितं
हि चैतन्यं प्रमाणमिष्यते । वृत्तिमदन्तःकरणप्रतिबिम्बितं प्रमातृचै-
तन्यम् । तदुभयं प्रमेयावभाससमये नानवभासमानं भवति । तथा
सति प्रमेयस्यैव स्वतःस्फुरणशङ्कापातादिदोषप्रसङ्गात् तदवभासश्च न
प्रमात्रन्तरात् प्रमाणान्तराद्वा भवति, अनवस्थाप्रसङ्गात्, अनुपपत्तेश्च,
इत्यतः स्वप्रकाशतयैव प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयानामवभासकस्यात्मनः
सिद्धिरिति तस्य सिद्धा नित्यस्वप्रकाशकूटस्थचिदात्मता इति अप्रका-
शस्वभावस्यैव प्रकाशान्तरापेक्षा न प्रकाशस्वभावस्य । उक्तमर्थं दृष्टा-
न्तोक्त्या बुद्धिमारोहयति—यथाप्रकाशनमिति ॥ ९३ ॥

ननु संविदः प्रमाणफलत्वप्रसिद्धेः कथं नित्यत्वं इत्याक्षिपति—

अनित्यत्वे एव प्रमा स्यात् न नित्यत्वे इति चेत् ॥ ९४ ॥

अनित्यत्वं एवेति ॥ ९४ ॥

अर्थावगतिर्हि प्रमा न तस्याः स्वरूपत एव अनित्यत्वे कल्पकमस्ति
इति समाधत्ते—

न । अवगतेः नित्यत्वानित्यत्वयोः विशेषानुपपत्तेः ।
नहि अवगतेः प्रमात्वे अनित्या अवगतिः प्रमा न नित्या
इति विशेषः अवगम्यते ॥ ९५ ॥

नावगतेरिति । संग्रहं विवृणोति—नहीति । चक्षुरादिद्वारक-
बुद्धिवृत्तिव्यक्तायाः अवगतेः प्रमात्वे सति नित्यायाः प्रमात्वं न
भवति । अनित्यायास्तु भवति इति विशेषो न हि गम्यते विनिग-
मनाभावादित्यर्थः ॥ ९५ ॥

तत्र विनिगमनाभावोऽसिद्ध इति शिष्यः शङ्कते—

नित्यायां प्रमातुः अपेक्षाभावः । अनित्यायां तु यत्नान्तरितत्वात्
अवगतिः अपेक्ष्यत इति विशेषः स्यात्
इति चेत् ॥ ९६ ॥

नित्याया इति । अवगतेः नित्यत्वे कारकव्यापारवैयर्थ्यं स्यात्
इत्ययं विशेष इत्यर्थः ॥ ९६ ॥

प्रमातुः स्वावगतेः नित्यत्वे प्रमाणव्यापारवैयर्थ्यमापाद्यते, किंवा
विषयावगतेर्नित्यत्वे । नाद्यः । इष्टापत्तेरित्याह—

सिद्धा तर्हि आत्मनः प्रमातुः स्वतःसिद्धिः प्रमाण-
निरपेक्षतयैवेति ॥ ९७ ॥

सिद्धा तर्हीति । नित्यावगतिपक्षे प्रमाणनैरपेक्ष्यं चेत् त्वया अनु-
मंस्यते तर्हि प्रमातुरात्मनः स्वरूपस्य स्वतःसिद्धिः स्वप्रकाशता प्रमा-

निरपेक्षतयैव सिद्धेत्यर्थः । अनित्यस्यास्वप्रकाशस्य च जडत्वात् आत्म-
त्वानुपपत्तेः इत्यभिप्रायः ॥ ९७ ॥

ननु आत्मप्रमाया नित्यत्वात् प्रमाणानपेक्षा किं न स्यात् इति
शङ्कते—

अभावेऽपि अपेक्षाऽभावः नित्यत्वात् इति चेत् न ।
अवगतेरेव आत्मनि सद्भावादिति परिहृतमेतत् ॥ ९८ ॥

अभावेऽपीति । प्रमाभावेऽपीत्यर्थः । परिहरति—नावगतेरिति ।
अवगतेरात्मनि सद्भावादेव प्रमाणानपेक्षा न ह्यवगत्यभावशङ्कावकाशः ।
असंहतस्य संघातसाक्षिणश्चित्तिमत्त्वोपपादनादित्यर्थः । अथवा आत्म-
सिद्धिः प्रमाणं नापेक्षते इति वदता प्रमाणाभावमपेक्षत इत्युक्तं स्यात्
इति मत्वा तदपेक्षापि तव नोपपद्यते आत्मसिद्धेर्नित्यत्वादेव इति
शङ्कते—अभावेऽपीति । स्वतःसिद्धप्रमाणनैरपेक्ष्यशब्दाभ्यां सर्वा-
नपेक्षप्रकाशमानात्मस्वरूपस्यैव विवक्षितत्वान्नात्र शङ्कावकाशः इति
परिहरति—नावगतेरिति ॥ ९८ ॥

इदानीं प्रमातुः स्वतःसिद्धिर्निरपेक्षैव इत्येतत् विपक्षवाचकोऽपन्या-
सेन साधयन् नित्याया अपि प्रमाया विषयावगतित्वसिद्धये विषयस्थत्वं
संपादयितुं प्रमाणव्यापारापेक्षाऽस्तीति सूचयन् पक्षान्तरमपाकरोति—

प्रमातुश्चेत् प्रमाणापेक्षासिद्धिः कस्य प्रमित्सास्यात् ।
यस्य प्रमित्सा स एव प्रमाता अभ्युपगम्यते । तदीया च
प्रमित्सा प्रमेयविषयैव न प्रमातृविषया । प्रमातृविषयत्वे
अनवस्थाप्रसङ्गात् । प्रमातुः तदिच्छायाश्च तस्याप्यन्यः
प्रमाता तस्याप्यन्य इति एवमेव इच्छायाः प्रमातृविषयत्वे
प्रमातुरात्मनः अव्यवहितत्वाच्च प्रमेयत्वानुपपत्तिः । लोके

हि प्रमेयं नाम प्रमातुः इच्छा—स्मृति—प्रयत्न—प्रमाणजन्म—
व्यवहितं सिद्ध्यति नान्यथा । अवगतिः प्रमेयविषया दृष्टा ।
नच प्रमातुः प्रमाता स्वस्य स्वयमेव केनचित् व्यवहितः
कल्पयितुं शक्यः इच्छादीनामन्यतमेनापि । स्मृतिश्च
स्मर्तव्यविषया न स्मर्तृविषया । तथा इच्छायाः इष्टवि-
षयत्वमेव न इच्छावद्विषयत्वम् । स्मर्त्रिच्छावद्विषयत्वेऽपि
हि उभयोः अनवस्था पूर्ववदपरिहार्या स्यात् ॥ ९९ ॥

प्रमातुश्चेदित्यादिना । अयमर्थः—सर्ववस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया
वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एवेति स्थिते कदाचिदज्ञातत्वेन निर्विकल्पक-
साक्ष्यवगतस्य ज्ञातत्वव्यवहारसिद्धये यस्य प्रमित्तोत्पद्यते स एव तदा
प्रमाता प्रमाणव्यापाराश्रय इत्युच्यते । तत्र प्रमातुः स्वरूपसिद्धिश्चेत्
प्रमाणापेक्षा स्यात् तदा कस्य प्रमित्ता स्यात् तस्यैव वा, अन्यस्य वा,
प्रमातुमिच्छा स्वविषया, अन्यविषया वा, सर्वथापि नोपपद्यते इति ।
तत्र इच्छाश्रयस्येच्छागोचरत्वं निराकुर्वन् स्वप्रमातृकत्वमात्मनो निरा-
करोति—यदीया चेति । कर्मविषया न कर्तृविषया इत्यर्थः ।
कर्तैव कर्मापि किं न स्यात् इत्याशङ्क्य एकस्यां क्रियायां एकस्यैव
गुणप्रधानभावेन कर्तृकर्मतया वैरूप्यप्रसङ्गान्मैवं इत्यभिप्रेत्य अन्यप्रमा-
तृकत्वे स्वयमसिद्धस्य अन्यसाधकत्वानुपपत्तेः अकरणस्य च निलीन-
तया साधकत्वासंभवात् तस्यापि सिद्धावन्यापेक्षायां तस्यापि तथात्वं
इत्यनवस्थामाह—प्रमातृविषयत्व इति । प्रमातुरनवस्थामभिनयति
—अप्यन्य इति । उक्तामनवस्थामिच्छायामतिदिशति—एवमेवे-
ति । आत्मनोऽप्रमेयत्वे हेत्वन्तरमाह—प्रमातुरिति । तदेव स्पष्ट-
यति—लोके हीति । इच्छाजन्मव्यवहितमिष्यमाणं भवति, स्मृ-

तिजन्मव्यवहितं स्मर्तव्यम्, प्रयत्नजन्मव्यवहितं च क्रियासाध्यं प्रयतितव्यं, प्रमाकरणव्यापारोत्पत्तिव्यवहितं प्रमेयमिति हि लोकप्रसिद्धमित्यर्थः । सिद्ध्यतीति निष्पत्तिप्रकाशयोर्निर्देशः । अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह—नान्यथेति । अवगतिशब्दश्च प्रकाशप्राप्त्योः साधारणः सुषुप्तस्यापि प्रमेयसिद्धिप्रसङ्गादिति भावः । तर्हि प्रमातुरपि सिद्धिः इच्छादिजन्मव्यवहितैव भवतु, नेत्याह—नचेति । स्वयमेव प्रमाता स्वस्यैव प्रमातुः इच्छादीनां अन्यतमेनापि व्यवहितः कल्पयितुं नच केनचित् शक्यः इत्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—स्मृतिश्चेत्यादिना । स्मृतीच्छयोः स्वाश्रयविषयकत्वे बाधकमाह—स्मर्त्रिच्छावद्विषयत्वे हीति । स्मर्ता च इच्छावांश्च स्मर्त्रिच्छावन्तौ तौ विषयौ ययोः तयोर्भावः स्मर्त्रिच्छावद्विषयत्वं तस्मिन्निति विग्रहः । उभयोः स्मृतीच्छयोः इत्यर्थः । स्मर्तुः स्ववृत्तिव्याप्यत्वायोगात् स्मर्त्रन्तरस्मृतिविषयता वक्तव्या । तथाच एकस्मिन्नात्मनि स्मर्त्रन्तराभ्युपगमे तस्यापि पूर्वसमानयोगक्षेमतया स्मृत्यनवस्था स्यात् इत्यर्थः । तुल्यमिच्छायाः प्रयत्नस्येति च द्रष्टव्यम् ॥ ९९ ॥

तदेवमात्मनि न प्रमाणव्यापारापेक्षा प्रमातुः स्वविषयप्रमाणक्रियाश्रयत्वायोगात् प्रमात्रन्तरकल्पनायां अनवस्थानात् अप्रमेय एवात्मा सिद्ध्यति । तस्य च बाह्यविषयावच्छेदाय प्रमाणव्यापारापेक्षासंभवान्न तद्वैयर्थ्यं इति चोक्त्या अवगतेः स्वतो नित्यत्वं साधितम् । इदानीं प्रकरणान्तरेण तदेव साधयितुं पूर्वपक्षयति—

ननु प्रमातृविषयावंगत्यनुत्पत्तौ अनवगत एव प्रमाता स्यादिति चेत् ॥ १०० ॥

ननु प्रमातृविषयेति । यद्विषयाऽवगतिरुत्पद्यते सोऽवगतः सिद्ध

इति चोच्यते । प्रमातुश्चावगत्यनुत्पत्तौ प्रमाता सुषुप्त एव सदा स्यात् इत्यर्थः ॥ १०० ॥

तत्र किं सुषुप्तसाम्यपरिहाराय आत्मनोऽवगतिविषयत्वं वक्तव्यमित्यभिप्रायः, किं वा सुषुप्तसाम्यपरिहारमात्रं वक्तव्यमिति । तत्र नाद्य इत्याह—

न, अवगन्तुः अवगतेः अवगन्तव्यविषयत्वात् अवगन्तृविषयत्वे च अनवस्था पूर्ववत् स्यात् । अवगतिश्च आत्मनि कूटस्थनित्यात्मज्योतिः अन्यतः अनपेक्षैव सिद्धा अग्न्यादित्याद्युष्णप्रकाशवदिति पूर्वमेव प्रसाधितम् । अवगतेः चैतन्यात्मज्योतिषः स्वात्मनि अनित्यत्वे आत्मनः स्वार्थतानुपपत्तिः कार्यकारणसंघातवत् संहतत्वात् पारार्थ्यं दोषवत्त्वं च अवोचाम । कथम् । चैतन्यात्मज्योतिषः स्वात्मनि अनित्यत्वे स्मृत्यादिव्यवधानात् सान्तरत्वम् । ततश्च तस्य चैतन्यज्योतिषः प्रागुत्पत्तेः प्रध्वंसाच्चोर्ध्वं आत्मन्येव अभावात् चक्षुरादीनामिव संहतत्वात् पारार्थ्यं स्यात् । यदा च तत् उत्पन्नं आत्मनि विद्यते न तदा आत्मनः स्वार्थत्वम् तद्भावाभावापेक्षा हि आत्मानात्मनोः स्वार्थत्वपरार्थत्वसिद्धिः । तस्मात् आत्मनः अन्यनिरपेक्षमेव नित्यचैतन्यज्योतिष्त्वं सिद्धम् ॥ १०१ ॥

नावगन्तुरिति । अवगन्तुरवगतिविषयत्वे स्वाश्रयावगतिव्याप्यत्वायोगात् अवगन्नन्तरावगतिविषयत्वं वाच्यम् । तथाच अनवस्थापूर्ववत् स्मृतीच्छाविषयत्ववत्स्यादित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—अवग-

तिश्चेति । ‘अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः’ ‘आत्मैवास्य ज्योतिः’ ‘एषोऽस्य परमो लोकः’ ‘नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते’ इत्यादि-
श्रुतेः आत्मनो नित्यप्रकाशस्वभावत्वावगमात् अम्युष्णप्रकाशवदलुप्ता-
वगतिरूपे अवगत्युत्पत्त्यपेक्षाभावात् न सुषुप्ततुल्यता तस्येति भावः ।
विपक्षे च उक्तं दोषं स्मारयति—अवगतेश्चैतन्यात्मज्योतिष इति ।
उक्तमेवानुपपत्तिं प्रश्नपूर्वकमुपन्यस्यति—कथमित्यादिना । स्मृत्या-
देः स्मृतीच्छादिरूपाद्यवधानात् विच्छेदात् चैतन्यज्योतिषः सान्त-
रत्वं इच्छादिवृत्त्यन्तरपूर्वकत्वमित्यर्थः । किं तत्र स्यात्तदाह—तत-
श्चेति । आत्मा यदि आगन्तुकचित्प्रकाशविषयः स्यात् तदा संहतः
परार्थश्च स्यात् इन्द्रियान्तःकरणप्राणादिवत् इति फलितमाह—यदा-
चेति । चैतन्यज्योतिः तच्छब्दार्थः । यदा च आत्मनि तदुत्पन्नं
विद्यते तदा नैवमात्मनः स्वार्थत्वं संभवतीत्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—
तद्भावेति । तस्य संहतत्वस्य भावाभावौ तदपेक्षा हि इति योजना ।
आगन्तुकचित्प्रकाशगम्यस्यानात्मत्वनियमात् तस्य च पारार्थ्यात् ।
तद्विलक्षण आत्मा नित्यचैतन्यस्वरूप एव सन् सदैवावभासते इत्यु-
पसंहरति—तस्मादिति ॥ १०१ ॥

इदानीं नित्यचैतन्यस्वरूपत्वे प्रमातृत्वानुपपत्तिं शङ्कते—

ननु एवं सति असति प्रमाऽश्रयत्वे कथं प्रमातुः
प्रमातृत्वम् ॥ १०२ ॥

नन्विति ॥ १०२ ॥

जन्यप्रमाश्रयत्वाभावेऽपि प्रमातृत्वव्यपदेश उपपद्यते इति परिह-
रति—

उच्यते—प्रमायाः नित्यत्वे अनित्यत्वे च रूप-

विशेषाभावात् । अवगतिर्हि प्रमा तस्याः स्मृतीच्छा-
दिपूर्विकायाः अनित्यायाः कूटस्थनित्याया वा न स्वरू-
पविशेषो विद्यते । यथा धात्वर्थस्य तिष्ठत्यादेः फलस्य
गत्यादिपूर्वकस्य अनित्यस्य अपूर्वस्य नित्यस्य वा रूपवि-
शेषो नास्तीति तुल्यो व्यपदेशो दृष्टः तिष्ठन्ति मनुष्याः
तिष्ठन्ति पर्वताः इत्यादि । तथा नित्यावगतिस्वरूपेऽपि
प्रमातरि प्रमातृत्वव्यपदेशो न विरुद्ध्यते फलसामान्या-
दिति ॥ १०३ ॥

उच्यते इत्यादिना । रूपविशेषः स्वरूपविशेषः । संग्रहं विवृणो-
ति—अवगतिर्हीति । तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । तिष्ठतिर्हि
अचलत्वे अर्थे प्रयुज्यते, तत्र किञ्चिद्गतिपूर्वकमेवं अचलं भवति यथा
जंगमजातम् । किञ्चित् अचलमेव सदा—यथा स्थावरजातम् । उभयत्र
तिष्ठतिव्यपदेशो न कश्चिद्विशेषोऽवगम्यते—यथा प्रमातेति नित्यप्रमा-
श्रयत्वे पि व्यपदेशो न विरुद्ध्यते इत्यर्थः । फलसामान्यादिति ।
फलस्वरूपे प्रमायां विशेषाभावात् इत्यर्थः । अयमाशयः—प्रमाण-
फलं हि प्रमा सा च चित्प्रकाशरूपा प्रमातृगतैव वक्तव्या । अन्यथा
विषयगतत्वेन मयेदं विदितं इति स्वात्मनि ज्ञानज्ञेयसंबन्धानुभवानु-
पपत्तेः । जडस्य च अन्तःकरणादेः व्यापाराश्रयत्वेऽपि चिदाश्रयत्वा-
योगात् प्रमात्वानुपपत्तेः । चिदात्मनस्तु कूटस्थत्वात् व्यापारवत्त्वायो-
गात् प्रमां प्रति कर्तृत्वानुपपत्तेः मुख्यया वृत्त्या जडाजडयोः उभयोरपि
प्रमातृत्वव्यपदेशायोग्यत्वात् परस्पराध्यासेन व्यवहारप्रवृत्तेः मिथ्यै-
वात्मनो बाह्यविषयेऽपि प्रमातृत्वमिति स्थितौ स्वात्मनि स्वयंप्रकाश-
स्वभावे कुतः प्रमातृत्वशङ्कावकाशः, कुतस्तरां अनवभासप्रसङ्गः,
कुतस्तमां च प्रमाणापेक्षेति ॥ १०३ ॥

एवं कूटस्थनित्यचैतन्यज्योतिषः अन्तःकरणोपाधिसंबन्धात्प्राप्तमौ-
पाधिकं प्रमातृत्वं उपपाद्य इदानीं कर्तृत्वमपि तथैवेति प्रतिपादयितुं
चोद्यमुद्भावयति—

अत्राह शिष्यः—नित्यावगतिस्वरूपस्य आत्मनः अवि-
क्रियत्वात् कार्यकरणैः असंहत्य तक्षादीनामिव वास्या-
दिभिः कर्तृत्वं नोपपद्यते, असंहतस्वभावस्य च कार्यक-
रणोपादाने अनवस्था प्रसज्यते, तक्षादीनां तु कार्यक-
रणैः नित्यमेव संहतत्वमिति वास्याद्युपादाने नानवस्था
स्यादिति ॥ १०४ ॥

अत्राहेति । तक्षादीनामिवेति । व्यतिरेकदृष्टान्तः । तक्षा
काष्ठवर्धकः । वासी तदायुधविशेषः । कसान्नोपपद्यते इत्यत आह—
असंहतस्वभावस्येति । तक्षादिदृष्टान्तं विवृणोति—तक्षादीनां
त्विति । अनवस्था न स्यादिति संबन्धः । इतिशब्दः शङ्कासमा-
प्त्यर्थः ॥ १०४ ॥

असंहतस्य कर्तृत्वाददर्शनात् आत्मनोऽपि संहतत्वं सिषाधयिषितं,
किं वा वस्तुतः तस्य कर्तृत्वाभाव इति वक्तव्यम् । तत्राद्यः पक्षः
आत्मनः कूटस्थत्वसाधनेनैवापोहितत्वात् अनवसरदुःखे इति मत्वा
द्वितीयमङ्गीकरोति—

इह तु असंहतस्वभावस्य करणानुपादाने कर्तृत्वं
नोपपद्यत इति करणं उपादेयम्—तदुपादानमपि विक्रि-
यैवेति तत्कर्तृत्वे करणान्तरमुपादेयम्, तदुपादानेऽपि
अन्यदिति प्रमातुः स्वातन्त्र्ये अनवस्था अपरिहार्या स्यात्

इति । नच क्रियैव आत्मानं कारयति अनिर्वर्तितायाः
स्वरूपाभावात् । अथ अन्यत् आत्मानं उपेत्य क्रियां
कारयतीति चेत् । न । अन्यस्य स्वतःसिद्धत्वाविषयत्वा-
द्यनुपपत्तेः । नहि आत्मनः अन्यत् अचेतनं वस्तु स्वप्रमा-
णकं दृष्टम् । शब्दादिसर्वमेव अवगतिफलावसानप्रत्ययप्र-
मितं सिद्धं स्यात् अवगतिश्चेदात्मनोऽन्यस्य स्यात्
सोऽपि आत्मैव असंहतः स्वार्थः स्यात् न परार्थः । नच
देहेन्द्रियविषयाणां स्वार्थतां अवगन्तुं शक्नुमः । अवगत्यव-
सानप्रत्ययाऽपेक्षसिद्धिदर्शनात् ॥ १०५ ॥

असंहतस्वभावस्य करणानुपादान इति । स्वातन्त्र्ये कर्तृत्वे
सतीत्यर्थः । अयंभावः—कर्तृत्वं कचित् करणोपादानसाध्यं कचित्तु
स्वसान्निध्यमात्रनिबन्धनम् । तत्र करणोपादानसाध्ये कर्तृत्वे वस्तुनः
आत्मनः करणोपादानासंभवात् कर्तृत्वाभावः पारमार्थिकः, तथापि
लौकिकमायाविवत् तैजसवच्च आत्मनः कर्तृत्वप्रतिभासो मायाप्रत्युप-
स्थापितान्तःकरणविकाराविवेकादुत्पद्यते, द्वितीये तु तक्षाद्यात्मनः
स्वहस्तादिव्यापारयितृत्वरूपे कर्तृत्वे स्वसान्निध्यातिरिक्तस्य करणादे-
रभाववत् आत्मनोऽपि सकलकरणसाक्षितया सान्निध्यमात्रेणैव कर्तृ-
त्वव्यपदेश उपपद्यतेति—परमार्थतोऽकर्तृत्वं उपाध्यविवेकात् कर्तृत्व-
व्यपदेशश्चेति न किञ्चन अवद्यमिति । तथाच पारमर्षं सूत्रद्वयं 'कर्ता
शास्त्रार्थवत्त्वात्'—'यथा च तक्षोऽभयथा' इति च । तर्हि अस्वतन्त्र
एव करिष्यत्यात्मा इति कर्ममीमांसकमतमाशङ्क्य प्रत्याह—नच
क्रियेति । क्रियाशब्दः किं प्रयत्नवचनः, तद्याप्यधात्वर्थवचनो वा,
तत्साध्याऽपूर्ववचनो वा, इति विकल्प्य आद्यौ प्रत्याह—अनिर्व-

तिताया इति । नहि स्वयमसिद्धः परं साधयतीति न्यायादित्यर्थः ।
 तृतीयेऽपि किं तन्निष्पाद्यं नियोगाख्यमपूर्वं विवक्षितं, उत पूर्वनिर्वृत्तं
 धर्माधर्माख्यम् । नाद्यः । पूर्वोक्तदूषणानुवृत्तेः । नच लिङादिश्रवणस-
 मनन्तरं प्रतीयमानाकारं प्रवर्तयत्यात्मानमिति वाच्यम् । प्रतीति-
 काले यद्यस्तीति बुद्धिः तदा सिद्धत्वप्रतीतेः न कारयितृत्वं नास्तीति
 प्रतीतौ बन्ध्यासुतवत् न कारयितृत्वम्, साधारणप्रतीतौ च पक्षे
 निवृत्तिसंभवात् न प्रेरकत्वसिद्धिः इत्यभिप्रेत्य द्वितीयमुत्थापयति—
 अथेति । यदप्यन्यत् पूर्वसिद्धं तदचेतनं, चेतनं वा, आद्ये न प्रेरक-
 त्वसंभव इत्याह—नेत्यादिना । आदिशब्दात् प्रेरकत्वग्रहः । तथा
 चात्मनः कर्तृत्वे सति लब्धस्वरूपस्यादृष्टस्य प्रेरकत्वसिद्धिः तत्सिद्धौ
 अन्यसिद्धिः इत्यन्योन्याश्रय इति भावः । द्वितीयं प्रत्याह—नहीति ।
 अदृष्टं अचेतनं आत्मान्यत्वात् शब्दादिवत् इत्यर्थः । स्वप्रमाणकं
 स्वतःसिद्धमिति यावत् । अतः स्वसत्तास्फूर्त्योः आत्मसापेक्षस्य कुतः
 तत्प्रेरकत्वसंभव इति भावः । शब्दादीनामनात्मसापेक्षसिद्धिकत्वं
 पूर्वोक्तं स्मारयति—शब्दादि सर्वमेवेति । एवं मीमांसकशङ्का नि-
 राकृता । एवं क्षेत्रज्ञातिरिक्तोऽपीश्वरोऽवगत्याश्रयः प्रेरकश्चास्तीति
 नैयायिकशङ्कां अपाकुर्वन् आत्मान्यस्याचेतनत्वानुमाने व्यभिचारप्रस-
 र्क्तिं वारयति—अवगतिश्चेदिति । ईश्वरो वस्तुतः आत्मभिन्नो न
 भवति अवगत्याश्रयत्वात् प्रत्यगात्मवत्, प्रत्यनुमानानुगृहीतायाः—‘अ-
 यमात्मा ब्रह्म’ इत्यादिश्रुतेः । आत्मनाऽन्यो न चेतनोऽस्ति स चात्म-
 भूत ईश्वरो देहादिभिः असंहतः स्वार्थः स्वतन्त्रः न परतन्त्र इति न
 क्रियाशेषः । अतः आत्मनः कर्तृत्वं विभ्रममात्रमित्यर्थः । ईश्वरात्मनो
 जगत्कर्तृत्वमपि मायाद्वारकमेवेति न कापि कर्तृत्वपरमार्थमिति भावः ।
 ननु अवगत्याश्रयत्वात् कथं असंहतत्वादिः । यतो देहादेः संहतस्या-

पि अवगत्याश्रयत्वमस्ति इति लोकायतमतं आशङ्क्याह—नचेति ।
देहादिः नावगत्याश्रयः अवगम्यमानत्वात् घटादिवत् इत्यर्थः ॥ १०५ ॥

ननु कथं देहादेः अवगत्यवसानप्रत्ययापेक्षसिद्धिकत्वं, यावता
मनुष्योऽहं पश्यामि जानामि इति स्वसंवेद्यत्वमनुभूयते इति शङ्कते—

ननु देहस्यावगतौ न कश्चित् प्रत्यक्षादिप्रत्ययान्तरं
अपेक्षते ॥ १०६ ॥

नन्विति ॥ १०६ ॥

अनुभवमात्रमङ्गीकरोति—

बाढम् । जाग्रति एवं स्यात् । मृतिसुषुप्त्योस्तु देह-
स्यापि प्रत्यक्षादिप्रमाणापेक्षैव सिद्धिः तथैव इन्द्रियाणां
बाह्या एव हि शब्दादयो देहेन्द्रियाकारपरिणता इति
प्रत्यक्षादिप्रमाणापेक्षैव हि सिद्धिः । सिद्धिरिति च
प्रमाणफलं अवगतिं अवाचाम । सा च अवगतिः कूटस्था
स्वयंसिद्धाऽत्मज्योतिःस्वरूपेति च ॥ १०७ ॥

बाढमिति । नायमनुभवः स्वनिबन्धनः किंतु देहात्मनोः अविवे-
कनिबन्धनः इति प्रत्याययति—जाग्रत्येवं स्यादित्यादिना । यदि
देहः स्वयंप्रकाशस्वभावः स्यात् । तदा स्वसत्तायां प्रमाणनिरपेक्षस्वभा-
वत्वात् सुषुप्तिमरणवस्थस्यापि प्रमाणानपेक्षसिद्धिकत्वं स्यात्, नचैव-
मस्ति तस्मात् अचेतनो देह इत्यर्थः । देहे उक्तन्यायमिन्द्रियादौ
अतिदिशति—तथेन्द्रियाणामिति । तथा देहवत् प्रमाणापेक्षैव
सिद्धिरित्यर्थः । किंच देहादिरनात्मा भौतिकत्वात् बाह्यवत् इत्याह—
बाह्या एव हीति । भूतान्येव ग्राह्यग्राहककरणतदायतनत्वेन परिण-
मन्ते । उपकार्योपकारकभावेन मिथः संहतानां समानयोनिवन्निय-

मात् इति भावः । ननु सिद्धिरिति निष्पत्तिरुच्यते सा न प्रत्यक्षाद्य-
पेक्षति तत्राह—सिद्धिरिति चेति । देहाकारपरिणतेषु भूतेषु मदश-
क्तिवत् अवगतिः उत्पद्यत इति तस्यापि भौतिकत्वं अविशिष्टमिति
लोकायतिकशङ्कामपाकुर्वन् अवगतिस्वरूपमाह—साचेति । इति च
अवोचाम इत्यनुषङ्गः ॥ १०७ ॥

अवगतेः कूटस्थत्वे तस्याः फलत्वप्रसिद्धिविरोधं शङ्कते—

अत्राह चोदकः । अवगतिः प्रमाणानां फलं कूटस्थ-
नित्यात्मज्योतिःस्वरूपेति च विप्रतिषिद्धम् इत्युक्तवन्त-
माह—न विप्रतिषिद्धम् । कथं तर्हि कूटस्था नित्या-
पि सती प्रत्यक्षादिप्रत्ययान्ते लक्ष्यते तादर्थ्यात् । प्रत्य-
क्षादिप्रत्ययस्य अनित्यत्वे अनित्येव भवति तेन प्रमाणा
नां फलं इति उपचर्यते ॥ १०८ ॥

अत्राहेति । अकार्यरूपाया अपि अवगतेः कार्यत्वं कूपाकाश-
कार्यत्ववत् उपचर्यते इति न फलत्वप्रसिद्धिविरोध इति परिहरति—
इत्युक्तवन्तमाह न विप्रतिषिद्धमिति । उपचारनिमित्तं पृच्छति—
कथं तर्हीति । उत्तरमाह—कूटस्थेति । तादर्थ्यादिति । प्रत्यक्षा-
दिप्रत्ययस्य बुद्धिवृत्तेः विषयसंसृष्टतया अवगत्यमिष्यत्यर्थत्वाद्वि-
त्यर्थः । तदेवं कूटस्थावगतिरूपे आत्मनि प्रमातृत्वं कर्तृत्वं फलत्वं
च कल्पनामात्रं इत्युपपादितं संहतस्य च देहादेर्विषयपर्यन्तस्य
पाराथर्यं जाड्यं पराधीनसिद्धिकत्वं चोक्तम् ॥ १०८ ॥

इदानीं एवं आत्मानात्मनोरवगमितं तत्त्वमवगम्य शिष्यः स्वाव-
गतमर्थं गुरुं प्रति निवेदयन् अद्वैतत्वमात्मनः संभावयितुं द्वैतस्य
मृषात्वं प्रकटयति—

यद्येवं भगवन् ! कूटस्थनित्यावगतिः आत्मज्योतिःस्वरूपैव स्वयंसिद्धा आत्मनि प्रमाणनिरपेक्षत्वात् ततोऽन्यतः अचेतनं संहत्यकारित्वात् परार्थं येन च सुखदुःखमोहप्रत्ययावगतिरूपेण पारार्थ्यं तेनैव स्वरूपेण अनात्मनः अस्तित्वं नान्येन रूपान्तरेण, अतो नास्तित्वमेव परमार्थतः । यथा हि लोके रज्जुसर्पमरीच्युदकादीनां तदवगतिव्यतिरेकेण अभावो दृष्टः एवं जाग्रत्स्वप्नद्वैतभावस्यापि तदवगतिव्यतिरेकेण अभावो युक्तः एवमेव परमार्थतः भगवन्, अवगतेः आत्मज्योतिषः नैरन्तर्यभावात् कूटस्थनित्यता अद्वैतभावश्च सर्वप्रत्ययभेदेषु अव्यभिचारात् प्रत्ययभेदाश्च अवगतिं व्यभिचरन्ति । यथा स्वप्ने नीलपीताद्याकारभेदरूपाः प्रत्ययाः तदवगतिं व्यभिचरन्तः परमार्थतो न सन्तीत्युच्यन्ते एवं जाग्रत्प्रत्ययपि नीलपीतादिप्रत्ययभेदाः तामेवावगतिं व्यभिचरन्तः असत्यरूपाः भवितुमर्हन्ति । तस्याश्च अवगतेः अन्यः अवगन्ता नास्तीति न स्वेन स्वरूपेण स्वयं उपादातुं हातुं वा शक्यते अन्यस्य च अभावात् ॥ १०९ ॥

यद्येवं भगवन्नित्यादिना । हे भगवन्, यद्येवं प्रत्यगात्मतत्त्वं कूटस्थत्वादिविशेषणावगत्यात्मकं तर्हि न प्रमातृत्वादिधर्मकं यतः अतः प्रमाणनिरपेक्षत्वात् परमार्थतः प्रमातुरभावे प्रमाणस्याप्यभावात् तन्निरपेक्षसिद्धिकम्, ततः प्रत्यगात्मनः अन्यदचेतनं परस्परोपकार्योपकारकभावेन संहत्य व्यवहारप्रवर्तकत्वात् परार्थं चेतनार्थं चैतन्यप्रतिभा-

समात्रसिद्धं स्वप्नदृष्टवत्—अनृतमित्यर्थः । ननु सुखदुःखमोहान्वयित्वेन दृश्यस्य सत्त्वरजस्तमोरूपप्रकृतिकार्यत्वावगमात्कथमनृतत्वमिति सांख्यशङ्कामपाकरोति—येनचेति । येन दृश्यमानाकारेण सुखदुःखमोहहेतुप्रत्ययावगतिरूपेण जडं परार्थं भोक्तृशेषवत् प्रतीयते तेनैव रूपेणात्मनः (अनात्मनः) स्वस्य दृश्यस्येति यावत् । अस्तित्वं सद्भावः न्यायेन सत्त्वाद्यात्मना रूपान्तरेण तत्र प्रमाणाऽभावात् । अतः परमार्थतो नास्तित्वमेव दृश्यस्येत्यर्थः । किंच विमतं जाग्रत्स्वप्नावस्थं दृश्यं नावगतिव्यतिरेकेण कचिदपि परमार्थसत् दृश्यत्वात् जडत्वाद्वा रज्जुसर्पादिवदित्याह—यथाहीति । एवं दृश्यस्य सापेक्षत्वेन मायामयत्वे संभाविते द्रष्टृत्वमद्वैतमनुभवारूढं मम संवृत्तमित्याह—एवमेवेति । एवं सतीत्यर्थः । नैरन्तर्यभावादेवेति एवकारो योज्यः । अथवा—यथा द्वैतस्य दृश्यस्य येन रूपेण परमार्थतः असत्त्वमनुभूयते मया, एवमेव भगवन् अवगत्यात्मकस्य प्रत्यक्प्रकाशस्य कूटस्थनित्यताऽद्वैतभावश्च मयानुभूयत इत्यध्याहारः । कूटस्थनित्यतायां हेतुः—नैरन्तर्यभावादिति । उत्पत्त्यादिसाक्षिणः उत्पत्त्यादिविकारस्यान्तरायस्यासंभवादित्यर्थः । अद्वैतभावे हेतुमाह—सर्वप्रत्ययेति । व्यावर्तमानेषु प्रत्ययेषु अव्यावृत्तेरित्यर्थः । ननु कुसुमेषु सूत्रवदव्यावृत्तावपि अवगत्यात्मनो न अद्वैतत्वसिद्धिः प्रत्ययानां कुसुमवदवस्थितत्वात् इत्याशङ्क्य अवगतिव्यावृत्तानां अज्ञातसत्त्वे मानाभावान्मैवमित्यभिप्रेत्याह—प्रत्ययभेदास्त्विति । विमताः जाग्रत्प्रत्ययाः परमार्थतो न विद्यन्ते चैतन्यप्रकाशव्यभिचारित्वात्, य एवं त एवं यथा स्वप्नप्रत्ययाः तथाचेमे, तस्मात्तथेति समुदायार्थः । द्वैतस्य मिथ्यात्वे तस्य दृश्यत्वं व्यभिचारित्वं च कारणमुक्तम्, तच्चैतन्यस्वरूपे आत्मनि

नास्तीत्यात्मनः सत्यत्वं कूटस्थनित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धमित्याह-
तस्याश्चावगतेरिति । योऽवगन्ता स एवात्मा इति स्थितेः अवग-
न्तुरवगम्यमानत्वाभावादवगम्यमानस्य च अनात्मत्वात् आत्मा स्वतः
परतो वा नोपादेयो न हेयश्च । अन्यस्य च अभावात्पूर्णोऽहं त्वत्प्र-
सादादिदानीमस्मीति शेषः ॥ १०९ ॥

एवं शिष्येणोक्तं गुरुरनुजानाति—

तथैवेति । एषा अविद्या यन्निमित्तः संसारो जाग्र-
त्स्वप्नलक्षणः । तस्याः अविद्यायाः विद्या निवर्तिका ।
इत्येवं त्वं अभयं प्राप्नोषि—नातः परं जाग्रत्स्वप्नदुःखमनु-
भविष्यसि संसारदुःखान्मुक्तोसीति ॥ ११० ॥

तथैवेति । प्रकरणोपक्रमे दृष्टं विद्याऽविद्यास्वरूपं तद्विभागं सप्रपञ्चं
उपपादितमुपसंहरति—एषा अविद्येत्यादिना । यन्निमित्तः संसारो
जाग्रत्स्वप्नलक्षणः एषा अविद्या इत्यन्वयः । विद्या वेदान्तमहावाक्य-
जन्यप्रत्ययाभिव्यक्तकूटस्थात्मप्रकाशरूपा इत्यर्थः । एषा च विद्या
तवेदानीं संवृत्तेतिकृतकृत्यस्त्वमिति शिष्यं प्रति आह गुरुः—इत्ये-
वमिति ॥ ११० ॥

गुरुणोक्तं शिष्योऽपि अनुमनुते—

ओमिति ॥ १११ ॥

ओमितीति । इति शब्दः प्रकरणपरिसमाप्तिद्योतनार्थः ॥ १११ ॥

॥ इति कूटस्थाद्वयात्मबोधनामकं अवगतिप्रकरणं

द्वितीयं विवृतम् ॥ २ ॥

॥ अथ परिसंख्यानप्रकरणं तृतीयम् ॥ ३ ॥

यथोक्तविद्यावतः कृतकृत्यत्वात् न किञ्चिद्विधितः अनुष्ठेयमस्ति इत्युपपादितम् । तत्र यद्येवं विज्ञानवतामपि केषांचित् भेददर्शनवासनावशात् निर्वातस्थप्रदीपवत् निश्चलं विज्ञानं न भवति तदा तेषां ज्ञानदाढ्याय परिसंख्यानं नाम वक्ष्यमाणमनुचिन्तनमनुष्ठेयमुपदेष्टुमारभते—

मुमुक्षूणां उपात्तपुण्यापुण्यक्षपणपराणां अपूर्वानुपचयार्थिनो परिसंख्यानमिदमुच्यते अविद्याहेतवो दोषाः बाह्यनःकायप्रवृत्तिहेतवः—प्रवृत्तेश्च इष्टानिष्टमिश्रफलानि कर्माणि उपचीयन्ते इति तन्मोक्षार्थम् ॥ ११२ ॥

मुमुक्षूणामित्यादिना । मुमुक्षूणां परममुपशममिच्छतामित्यर्थः अविद्यामूलकत्वात् कर्मणां तन्निवृत्तिमन्तरेण आत्यन्तिकनिवृत्त्यसंभवात् पूर्वोपाजितकर्मोच्छेदः अपूर्वकर्मानुपजनिश्च अविद्यानिवृत्त्यैवोपपत्स्यत इति अविद्यानिवृत्तिद्वारा तदुभयमिच्छतामित्युत्तरविशेषणद्वयस्यार्थः । परिसंख्यानानुष्ठानप्रयोजनमाह—अविद्याहेतव इति । अविद्याहेतुः निदानं येषां ते तथा दोषाः रागद्वेषादयः । तेच वागादीनां व्यापारोत्पत्तिहेतवः । तद्व्यापाराच्च द्विविधं कर्मजातम् शास्त्रीयं स्वाभाविकं च देवतिर्यङ्मनुष्यत्वप्रापकं उपचीयत इति यतः अतः तन्मोक्षार्थमविद्यारागादिनिबन्धनकर्मतत्फलसंगनिवृत्त्यर्थं परिसंख्यानं कार्यमित्यर्थः ॥ ११२ ॥

परिसंख्यानप्रकारं सोपस्करं निरूपयति—

तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां विषयाणां श्रोत्रादि-ग्राह्यत्वात् स्वात्मनि परेषु वा विज्ञानाभावः, तेषामेव परिणतानां यथा लोष्टादीनां श्रोत्रादिद्वारैश्च ज्ञायन्ते,

येन च ज्ञायन्ते सः ज्ञातृत्वात् अतज्जातीयः, ते हि शब्दादयः अन्योन्यसंसर्गित्वात् जन्मवृद्धिविपरिणामापक्षयनाशसंयोगवियोगाविर्भावतिरोभावविकारविकारिक्षेत्रबीजाद्यनेकधर्माणः सामान्येन च सुखदुःखाद्यनेकधर्माणः तद्विज्ञातृत्वादेव तद्विज्ञाता सर्वशब्दादिधर्मविलक्षणः ॥ ११३ ॥

तत्रेत्यादिना । तत्र प्रथमं आत्मानं अनात्मभ्यो विविच्य—अनुसंदधीतेत्युपदिशन् तद्विवेकप्रकारमाह—शब्दस्पर्शेत्यादिना । विषयत्वे हेतुः—श्रोत्रादिग्राह्यत्वादिति । स्वात्मनि शब्दादिस्वरूपे परेषु वा घटादिषु विज्ञानाभावो विज्ञातृत्वाभावः चैतन्याभावो वा निश्चितः यथा लोष्टादीनां विषयाणां तथा तेषामेव शब्दादीनां भूतसूक्ष्माणां परिणतानां देहाद्याकारतां आपन्नानां यथोक्तविज्ञानाभावो निश्चीयत इति योजना । विमताः देहादयो न चेतनावन्तः विज्ञानकर्मत्वात् लोष्टादिवदित्यर्थः । हेत्वसिद्धिं परिहरति—श्रोत्रादीति । ज्ञायन्ते देहाद्याकारपरिणताः शब्दादय इति शेषः । देहेन्द्रियमनोवृद्धिग्राणाहंकारपर्यन्तस्य साक्ष्यस्यानात्मतया हेयत्वमुपदिश्य अवशिष्टमहेयमनुपादेयं च साक्षिणमात्मानं दर्शयति—येन चेति । अतज्जातीयः भूतसंघातविलक्षणस्वभाव इत्यर्थः । विलक्षणस्वभावत्वमेव प्रकटयितुं विषयस्वभावमुपन्यस्यति—ते हीत्यादिना । जन्मग्रहणादेव तदनन्तरास्तित्वं गृहीतं द्रष्टव्यम् । जन्मादयः षड्भावानां स्वरूपनिबन्धना विकाराः, संयोगविभागौ पुत्राद्यनुबन्धनिबन्धनौ, आविर्भावतिरोभावशब्दौ आगन्तुकप्रकाशविषयतया जडत्वद्योतकौ दर्शनादर्शने आविर्भावादिशब्दार्थः, विकारविकारीति व्रणगण्डस्फोटदृष्ट-

वस्थोच्यते । क्षेत्रवीजेति स्त्रीपुं प्रकृत्यात्मकपरिणामभेद उक्तः । आदिप-
दात् अनुक्त अवान्तरभेदपरिग्रहः । एवंविधानेकधर्मवन्त इत्यर्थः ।
सामान्येनेति । शब्दाद्यनुभवे सति सुखदुःखमोहरागाद्युत्पत्तिः
प्रसिद्धेत्यर्थः । कर्मशब्दः कार्यवचनः । शब्दादिविषयतदवस्थासा-
क्षिणः तद्विलक्षणस्वभावत्वमाह—तद्विज्ञातृत्वादेवेति ॥ ११६ ॥

एवं साक्षिसाक्ष्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां आत्माऽनात्मानौ विविच्य
आत्मानमेव शुद्धमहं ब्रह्मास्मीत्यनवरतमनुचिन्तयतः यदा अन्यप्रयुक्त-
शब्दाद्युपलम्भनिमित्तविक्षेपः उपस्थितो भवति तदा अवकृपानैष्ठुर्या-
दिविकारोद्भवपरिहाराय अनुचिन्तनीयमुपदिशति—

तत्र शब्दादिभिः उपलभ्यमानैः पीड्यमानो विद्वान्
एवं परिसंचक्षीत ॥ ११४ ॥

तत्र शब्दादिभिरिति ॥ ११४ ॥

उक्तमेव विषयं विमज्ज्य व्युत्पादयति—

शब्दस्तु ध्वनिसामान्यमात्रेण विशेषधर्मैर्वा षड्भादि-
भिः प्रियैः स्तुत्यादिभिः इष्टैः अनिष्टैश्च असत्यबीभत्सपरि-
भवाऽक्रोशादिभिर्वचनैः मां दृक्स्वभावं असंसर्गिणं अ-
विक्रियं अचलं अनिधनं अभयं अत्यन्तसूक्ष्मं अविषयं
गोचरीकृत्य स्प्रष्टुं नैवार्हति असंसर्गित्वादेव माम् । अत-
एव न शब्दनिमित्ता हानिः वृद्धिर्वा अतो मां किं करि-
ष्यति स्तुतिनिन्दादिप्रियाप्रियत्वादिलक्षणः शब्दः । अवि-
वेकिनं हि शब्दं आत्मत्वेन गतं प्रियः शब्दो वर्धयेत्
अप्रियश्च क्षपयेत् अविवेकित्वात्, नतु मम विवेकिनो
वालाग्रमात्रमपि कर्तुमुत्सहतइति, एवमेव स्पर्शसामा-

न्येन तद्विशेषैश्च शीतोष्णमृदुकर्कशादि—ज्वरोदरशूलादि-
लक्षणैश्च अप्रियैः प्रियैश्च कैश्चित् शरीरसमवायिभिः बाह्या-
गन्तुकनिमित्तैश्च न मम काचित् विक्रिया वृद्धिहानिल-
क्षणा अस्पर्शत्वात् क्रियते व्योम्न इव मुष्टिघातादिभिः ।
तथा रूपसामान्येन तद्विशेषैश्च प्रियाप्रियैः स्त्रीव्यञ्जना-
दिलक्षणैः अरूपत्वात् न मम काचित् हानिः वृद्धिर्वा
क्रियते । तथा रससामान्येन तद्विशेषैश्च प्रियाप्रियैः मधु-
राम्ललवणकटुतिक्तकषायैः मूढबुद्धिभिः परिगृहीतैः
अरसात्मकस्य मम न काचित् हानिः वृद्धिर्वा क्रियते ।
तथा गन्धसामान्येन तद्विशेषैः प्रियाप्रियैः पुष्पाद्यनुले-
पनादिलक्षणैः अगन्धात्मकस्य न मम काचित् हानिः
वृद्धिर्वा क्रियते—‘अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं
नित्यमगन्धवच्च यत्’ इति श्रुतेः ॥ ११५ ॥

शब्दस्त्विति । ध्वनिः अव्यक्तवर्णविशेषो नादमात्रमित्यर्थः ।
विशेषधर्मे रित्यस्य व्याख्या—पङ्गादिभिरित्यादि । मां हृक् स्वभा-
वम् इत्यस्य विवरणार्थानि विशेषणानि—असंसर्गिणमित्यादीनि ।
उत्सहत इति इत्यत्र परिसंचक्षीतेत्यनुषङ्गः । किंच य एव इत्यतः
प्राक्तनो ग्रन्थः स्पष्टार्थः ॥ ११५ ॥

एवं तावच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः सामान्यविशेषरूपैः न हानिर्वृ-
द्धिर्वा ममेति तैरनभिभवं अनुचिन्तनीयमभिधाय इदानीं शब्दाद्यनु-
भवमनुचिन्तनीयं दर्शयति—

किंच य एव बाह्याः शब्दादयः ते शरीराकारेण
संस्थिताः तद्बाह्यैश्च श्रोत्राद्याकारैः अन्तःकरणद्वयत

षयाकारेण च अन्योन्यसंसर्गित्वात् संहतत्वाच्च सर्वक्रियासु तत्र एवं सति विदुषो मम न कश्चित् शत्रुः मित्रं उदासीनो वा अस्ति; तत्र यदि कश्चित् मिथ्याज्ञानाभिमानेन प्रियं अप्रियं वा प्रयुयुङ्क्षेत क्रियाफलक्षणं तन्मृषैव प्रयुयुङ्क्षते सः तस्य अविषयत्वान्मम—‘अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयं’ इति स्मृतेः । तथा सर्वेषां पञ्चानामपि भूतानां अविकार्यः अविषयत्वात् ‘अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयं’ इति स्मृतेः । यापि शरीरेन्द्रियसंस्थानमात्रमुपलक्ष्य मद्भक्तानां विपरीतानां च क्रियाऽक्रियादिप्रयुयुङ्क्षा तज्जा च धर्माधर्मादिप्राप्तिः सा तेषामेव नतु मयि अजरे अमृते अभये ‘नैनं कृताकृते तपतः’, ‘न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्—’, ‘स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः’, ‘न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः’ इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः अनात्मवस्तुनश्च असत्त्वात् इति परमो हेतुः । आत्मनश्च अद्वयत्वविषयाणि द्वयस्यासत्त्वात् यानि सर्वाणि उपनिषद्वाक्यानि विस्तरशः समीक्षितव्यानि समीक्षितव्यानीति ॥ ११६ ॥

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ उपदेशसाहस्र्यां

गद्यप्रबन्धः समाप्तः ॥ ॐ ॥

किंच य एवेति । ये एव शरीरेन्द्रियाकारैः परिणम्य संस्थिताः ते एव अन्तःकरणद्वय—तद्विषयसुखदुःखाद्यात्मना च परिणमन्त इत्याध्याहारः । तत्र हेतुद्वयमाह—अन्योन्येति । सर्वक्रियासु संहतत्वात् संभूयकारित्वादित्यर्थः । ततः किं इत्यत आह—तत्रैवं सतीति । भूतभौतिकानामेव सक्रियत्वे सति विदुषो मम सर्वविकारविकारिसं-

घातसाक्षिणो निर्विकारस्य न कश्चित् शब्दादिः विद्यत इति चिन्तयेत् ।
 यदि कश्चिन्मिथ्याज्ञाननिमित्ताद्देहाभिमानात् मम प्रियमप्रियं वा
 क्रियाफललक्षणं प्रयुयुङ्क्षेत् प्रयोक्तुमिच्छेत् स तन्मृषैव प्रयुयुङ्क्षते तस्य
 अविषयत्वात् क्रियाद्यगोचरत्वात् ममेति चिन्तयेदिति योजना ।
 क्रियाद्यविषयत्वे मानमाह—अव्यक्तोयमिति । अविकारित्वं चात्मनः
 चिन्तयेदिति सप्रमाणमाह—तथा सर्वेषामिति । नन्वेवं अनाधे-
 यातिशयश्चेदात्मा कथं तर्हि तमुद्दिश्य अन्येषामुपकाराद्यर्था प्रवृत्तिः
 तत्राह—यापीति । शरीरसंस्थानमेव ते पश्यन्ति न आत्मानम् ।
 शरीरे च ममाभिमानाभावात् आत्मनश्चासङ्गादिलक्षणत्वात् न मयि
 तत्कृतोऽतिशयः किंतु तेषामेव यथाक्रियं फललाम इत्यर्थः । स्वस्याना-
 धेयाऽतिशयत्वे प्रमाणमाह—नैनमित्यादिना । किंच यदि अनात्मा
 नाम स्यात् तदा तत्कृतं प्रियमप्रियं वा भवेत् न तन्ममास्ति सर्वात्म-
 त्वान्ममेति चिन्तयेदित्याह—अनात्मवस्तुनश्चेति । कुतः तस्यास-
 त्वमित्यत्र हेतुमाह—आत्मनश्चेति । आत्मनश्चाऽद्वयत्वे प्रामाणिके
 सति तद्विरुद्धस्य द्वयस्यासत्त्वादित्यर्थः । उक्तार्थसाधकं प्रमाणमप्यनु-
 शासनीयमित्याह—यानीति । ब्रह्मविद्याप्रतिपादकानि सर्वाणि
 वेदान्तवाक्यानि विस्तरशो बहुशाखोपसंहारेण पुनः पुनः आलोच-
 नीयानीत्यर्थः । द्विरुक्तिः गद्यबन्धसमाप्तिद्योतनार्था ॥ ११६ ॥

॥ इति परिसंख्यानप्रकरणं तृतीयं विवृतम् ॥ ३ ॥

उपदेशसाहस्र्याः सद्गद्यबन्धो यथामति ॥

व्याख्यातो रामतीर्थेन भक्त्या स्वज्ञानसिद्धये ॥

इति श्रीमता रामतीर्थेन विरचिता उपदेशसाहस्री-

गद्यप्रबन्धटीका संपूर्णा ॥

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

